જ્યોતિ ફિરવા

आचार्य श्री रजनीशजी का एक लाक्षणिक मुद्रा

"ज्योति शिखा"

आचार्य श्री रजनीश की अमृतवाणी का त्रैमासिक संकलन

• आठवां संकलन
मार्च, १९६८

• मानार्ह संपादक :
श्री जटुभाई महेता

★

• संपादक मंडल :
श्री दुर्लभजीभाई खेताणी
श्रीमती पूर्णिमाबहेन पकवासा

★

• मुद्रक–प्रकाशक :
श्री रमणलाल सी. शाह
जीवन जागृति केन्द्र
५०५, कालबादेवी, बंबई –२

★

• मुद्रण स्थान :
स्टेट्स पीपल प्रेस,
घोघा स्ट्रीट–बंबई–१

★

• मूल्य : वार्षिक रु. ५–००
एक प्रतिः रु. १–२५

अनुक्रमिका

क्रमांक	विषय	संकलक	पृष्ठ
१	एक अनूठी भेंट	सौ. जयवंती माहेश्वरी	३
२	सत्यकी पहली किरण	श्रीमती भारती नागड़ा	३८
३	क्या मनुष्य एक यंत्र है ?	श्री. सौभाग्यचन्द्र तुरखिया	६०
४	ज्ञानगंगा	डा. गोविन्ददास, एम. पी.	७५
५	समाचार विभाग	संपादक	८८

आचार्य रजनीशजी के आगामी देशव्यापी कार्यक्रम

२८ मार्च : प्रभात : भावनगर : सौराष्ट्र

२८ मार्च : मध्यान्ह : लोक भारती : सणोसरा : सौराष्ट्र

२९–३०–३१ मार्च : ज्ञानसत्र : राजकोट : सौराष्ट्र

७–८–९–१० एप्रैल : सायं : ज्ञानसत्र : क्रॉस मेदान, बंबई

८–९–१० एप्रैल : प्रभात : ज्ञानसत्र : सी. जे. हॉल, बंबई

१६–१७ एप्रैल : ज्ञानसत्र : सागर : मध्यप्रदेश

२३–२४–२५ एप्रैल : सत्संग: जलन्धर : पंजाब

३–४–५ मई : शिबिर नारगोल (जि. बलसार) गुजरात

१८–१९–२० मई : सत्संग : जूनागढ : सौराष्ट्र

१४–१५–१६ जुलाई : सत्संग : ईन्दौर : मध्यप्रदेश

६–७–८ सितंबर : ज्ञानसत्र : पटना : बिहार

एक अनूठी भेंट

[घाटकोपर बंबई में प्रवचन]

संकलन : सौ. जयवंती माहेश्वरी

एक छोटी सी घटना से मैं आज की चर्चा शुरू करना चाहता हूं।

अभी सुबह ही थी। और गांव के बच्चे स्कूल पहुंचे ही थे कि अनायास ही उस स्कूल के निरीक्षण के लिये एक इन्स्पेक्टर का आगमन हो गया। वह स्कूल की सबसे बड़ी कक्षा में गया और बोला : 'इस कक्षा में जो तीन विद्यार्थी सर्वाधिक उत्तम हों, बुद्धिमान हों, उनमें से एक एक क्रमशः मेरे पास आये और जो मैं प्रश्न दूं, उसे बोर्ड पर हल करे।'

उस कक्षा का प्रथम विद्यार्थी उठकर सामने आया और उसे जो प्रश्न दिया गया, उसने उसे हल किया और चुपचाप वापिस अपनी जगह जाकर बैठ गया। फिर दूसरा विद्यार्थी उठकर आया। उसे भी जो प्रश्न दिया गया, उसने हल किया और चुपचाप अपनी जगह जाकर बैठ गया। लेकिन तीसरे विद्यार्थी के आने में थोडी देर लगी। और जब तीसरा विद्यार्थी आया भी तो वह बहुत झिझकते हुये आया। वह डरा हुआ सा बोर्ड के पास आकर खडा हो गया। उसे सवाल दिया गया। लेकिन तभी इन्स्पेक्टर को ख्याल आया कि यह तो पहला ही विद्यार्थी है जो फिरसे आ गया है। तो उसने उस विद्यार्थी को कहा : 'जहां तक मैं समझता हूं तुम पहले विद्यार्थी हो जो फिर से आ गये हो ?' उस विद्यार्थी ने कहा : 'माफ कीजिये हमारी कक्षा में जो तीसरे नंबर का विद्यार्थी है, वह आज क्रिकेट का मैच देखने चला गया है। और मैं उसकी जगह आया हूं। वह मुझसे कह गया है कि मेरा कोई काम हो तो तुम कर देना।' इन्स्पेक्टर तो यह सुनते ही आगबबूला हो गया। वह बहुत नाराज हो गया और जोर जोर से चिल्लाने

लगा। उसने कहा : "क्या यह बात भी कभी देखी और सुनी गई है कि एक विद्यार्थी के प्रश्न दूसरा विद्यार्थी हल करे ? या एक की परीक्षा दूसरा दे ? इससे ज्यादा अनैतिक बात और क्या हो सकती है ? और उसने विद्यार्थिओं को काफी समझाया कि यह बहुत भूल भरी बात है और तब वह शिक्षक की तरफ मुडा और उसने कहा: 'महानुभाव, आप खडे खडे देख रहे हैं और आपने इस विद्यार्थी को रोका नहीं ? मुझे मूर्ख बनाया जा रहा है और आप चुपचाप खडे देख रहे हैं ? क्या उचित नहीं था कि आप इस विद्यार्थी को रोकते ?' स्वयं को फंसते देखकर वह शिक्षक भी विद्यार्थियों पर खूब नाराज हुआ । लेकिन अंत में इन्स्पेक्टर ने उससे पूछा : 'मुझे ऐसा मालूम होता है जैसे आप इन विद्यार्थियों को पहचानते नहीं ?' उस शिक्षक ने कहा : 'माफ कीजिये, असल में मैं इस कक्षा का शिक्षक नहीं हूं । इस क्लास का शिक्षक क्रिकेट का मैच देखने चला गया है और वह मुझसे कह गया है कि जरुरत पडे तो मैं उसकी कक्षा देख लूं । यह सुन तो इंस्पेक्टर जैसे पागल ही हो गया । वह बोला : यह क्या है ? यह कैसी स्थिति है ? आप भी धोखा दे रहे हैं, मुझे ? आप दूसरे क्लास के शिक्षक हैं और आप यहां खडे हैं ?' उसने शिक्षक को भी बहुत भला बुरा कहा और कहा कि क्या यह उचित न होगा कि आपको नौकरी से अलग कर दिया जावे ? यह सुन तो शिक्षक रोने लगा और उसने इंन्स्पैक्टर के पैर पकड लिये और बार बार क्षमा किये जाने की प्रार्थना करने लगा । उस गरीब शिक्षक को रोते देख इंस्पैक्टर को भी अंततः दया आ गई और वह बोला : 'वह तो अच्छा हुआ और आपका सौभाग्य ही है कि आज असली इंस्पैक्टर निरीक्षण करने नहीं आया । वह क्रिकेट का मैच देखने चला गया है । मैं तो उसका मित्र मात्र हूं । वह मुझसे उसकी जगह निरीक्षण करने के लिये कह गया है इसलिये मैं आया हूं । यदि आज मेरी जगह असली इंस्पैक्टर होता तो आपकी खैरियत न थी । लेकिन ध्यान रहे कि आगे ऐसी भूल नहीं करनी है ।"

मैं इस घटना से आज की चर्चा क्यों शुरु करना चाहता हूं ? इसलिये कि ज्ञात हो कि हम सारे लोग एक ही नाव पर सवार हैं । और वह नाव अधर्म की है । और वह नाव अंधकार की है। और उस नाव के अस्तित्व के लिये हम सब एक से ही दोषी और जिम्मेदार हैं । दूसरों की ओर ऊंगलिया उठाना व्यर्थ है । एक अंगुली दूसरे की ओर उठती है तो शेष चार अपनी ही ओर उठ जाती हैं । इसलिये प्रत्येक के लिये यही महत्वपूर्ण है कि वह अपनी तरफ ही देखे और खोजे कि वह किस स्थिति में है । हम सब एक ही नाव में हैं और एक सी ही हमारी जिम्मेवारी है । इस गंदे समाज को और इस कुरुप दुनिया को बनाने में, और जीवन पर घिरे इस अंधकार के निर्माण में हमारा ही योगदान है । इस सबमें हम भी साझीदार हैं । बहुत आसान है कि हम दूसरों की

भूलें देखें । बहुत आसान है कि हम दूसरों की नग्नता देखें । वह बहुत कठिन बात नहीं है । आसान है और सुखद और प्रीतिकर भी । क्योंकि हम जबभी दूसरों की भूलें और दूसरों के अंधकार भरे पहलू को देखते हैं तो हमें एक कुत्सित खुशी मिलती है । वह खुशी इसलिये मिलती है क्योंकि दूसरों के अशुभ और अंधकार स्थल देखने पर हमारे खुद के जीवन की कुरुपतायें अत्यंत सामान्य हो जाती हैं। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सभी लोग ऐसे ही हैं । तो मुझमें कोई विशेष खराबी नहीं है । और फिर दूसरों के अंधकार को देखने से हमारे खुद के भीतर, हमारे खुद के जीवन में जो अंधकार तथ्य हैं, उनको देखकर जो पीडा होनी चाहिये, जो आत्मदंश होना चाहिये, जो चिन्तन होना चाहिए, उससे भी हम बच जाते हैं । ऐसे स्वयं की कुरुपता को भी स्वीकार करने की सुविधा मिल जाती है ।

और, सत्य के मार्ग पर, सौन्दर्य के मार्ग पर, शुभ के मार्ग पर, धर्म के मार्ग पर, प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन के नग्न तथ्यों को देख लेना अत्यंत जरुरी है । दूसरों के जीवन को तो हम सभी देखते हैं । लेकिन अपने जीवन को नहीं । दूसरों के जीवन में तो हम झांकते हैं लेकिन अपने जीवन में नहीं । और तब.....तब हमारे जीवन में धर्म का तो अवतरण नहीं होता, उल्टे अधर्म का ही आवरण बढता है ।

धर्म आत्म आलोचना है. . . . . धर्म है स्वयं के संबंध में अत्यंत तीखी और पैनी आंखों से दर्शन । स्वयं का स्पष्ट विश्लेषण । स्वयं के प्रति अत्यंत सजग जागरुकता । और जब तक स्वयं को उसकी पूरी सचाई में न जान लें, तक तक स्वयं के परिवर्तन का कोई मार्ग नहीं है । जो व्यक्ति अपने को बदलने चला है, किसी क्रांति से गुजरने चला है, अपने जीवन को आलोकित करने की जिसकी प्यास पैदा हुई है, उसे स्वयं को बहुत बारीक आंखों से देख लेना आवश्यक है । और हमारी स्थिति तो ठीक इससे विपरीत है । हम तो स्वयं से ही स्वयं के तथ्यों को छिपाते हैं । हम तो उन्हें ढांकते हैं और किसी अन्य से ढांकते होते तो भी एक बात थी, हम तो अपने से ही उन तथ्यों को ढांक लेते हैं । हम खुद को ही धोखा देते हैं ।

अधर्म की परिभाषा मेरी दृष्टि में यही है । स्वयं को धोखा देना ही अधर्म है । स्वयं से आंखें चुराना ही अधर्म है । स्वयं से पलायन ही अधर्म है । क्योंकि जो स्वयं को ही धोंखा देता है. . . वह स्वयं को कैसे जान सकता है और स्वयं कैसे हो सकता है ? और स्वयं हुये बिना धर्म कहां? धर्म तो स्वरूप है । धर्म तो स्वभाव है । इसलिये मैं कहता हूं कि जो स्वयं को धोखा देने में असमर्थ हो जाता है, उसकी जीवन में धर्म की यात्रा शुरु हो जाती है ।

लंदन में शेक्सपीयर का एक नाटक चलता था । बहुत उसकी प्रशंसा थी ।

सारे नगर में बस उसकी ही बात थी । उस महानगरी का जो सबसे बडा धर्म पुरोहित था, आर्चप्रीस्ट था, उसके भी मन में हुआ कि मैं भी जाऊं और उस नाटक को देखूं । लेकिन पुरोहित का नाटक देखने जाना शोभन् न था । आखिर उन्होंने ही तो जीवन को गाली दे-देकर निन्दित किया है तो वे स्वयं जीवन को सहजता और स्वतंत्रता से जीने को मुक्त कैसे हो सकते हैं ? धर्मगुरु नाटक देखने जाये, यह ठीक न था लेकिन मन उसका बहुत बहुत उत्सुकता और आतुरता और आकांक्षा से भरा हुआ था कि देखूं । उसने उस थियेटर के मैनेजर को एक पत्र लिखा । और उस पत्र में लिखा कि मेरे मित्र, मेरे मन में बडी तीव्र आकांक्षा है कि मैं भी नाटक देखने आऊं, क्या तुम्हारे थियेटर में पीछे का कोई दरवाजा नहीं है जिससे मैं तो आ सकूं और नाटक देख सकूं, लेकिन देखने वाले दूसरे लोग मुझे न देख सकें ? उस थियेटर के मैनेजर ने जो उत्तर दिया वह बडा अद्‌भुत था । उसने लिखा कि आप जरुर आयें । आपका स्वागत है । पीछे चोर दरवाजा है । उससे अक्सर ही धर्म पुरोहित, साधु, सन्यासी और सज्जन पुरुष आते हैं ! उनके लिये ही विशेष रुप से उसे बनाना पडा है । लेकिन एक बात मैं निवेदन कर दूं कि ऐसा दरवाजा तो है हमारे थियेटर में कि आप आयें तो और दूसरे दर्शक आपको न देख पायें, लेकिन ऐसा कोई द्वार हमारे थियेटर में नहीं है, जिससे आप आयें और परमात्मा भी आपको न देख सके ! मुझे पता नहीं, वह पादरी गया या नहीं । वह जरुर गया होगा । क्योंकि कोई पादरी परमात्मा से जरा भी नहीं डरता है ।

जीवन में हम दूसरों को धोखा देना चाहते हैं वह तो ठीक ही है, लेकिन अपने कोभी धोखा देना चाहते हैं । लेकिन क्या कोई ऐसा दरवाजा भी हो सकता है कि जिससे हम जायें और हम ही अपने को जाते हुये न देख सकें ? हो सकता है परमात्मा भी चूक जाये, हो सकता है परमात्मा भी न देख पाये । आखिर परमात्मा किस-किस दरवाजे पर कितनी - कितनी नजर रखता होगा ? और क्या इस भांति चोर दरवाजों को तकते-तकते वह अबतक ऊबभी न गया होगा, थक भी न गया होगा ? लेकिन ऐसा दरवाजा तो हो ही नहीं सकता है कि जिससे मैं ही निकलूं और मैं ही स्वयंको न देख पाऊं ? नहीं, ऐसा दरवाजा कैसे हो सकता है ? लेकिन हम बहुत होशियार हैं । हम अपनी आंखें बंद कर लेने को तैयार हैं । हम खुद को भी पता नहीं चलने देते हैं । और यह धोखा गहरा होता चला जाता है । यह आत्म प्रवंचना (Self-Deception) भारी होती चली जाती है । इसका भार और बोझ रोज ही बढता चला जाता है । मानवात्मा उसके बोझ में दबी ही चली जाती है । क्योंकि आत्मा को डुबाने और दबाने के लिये आत्मवंचना से सार्थक और सफल और कोई दूसरी विधि ही नहीं है । और फिर हम आत्मा को पाना चाहते हैं, और फिर हम स्वयं को जानना और जीतना चाहते हैं ।

लेकिन यह हो कैसे ? पूर्व और पश्चिम एक साथ ही तो नहीं चला जा सकता है ? अंधकार और प्रकाश को एक साथ ही तो नहीं पाया जा सकता है ? जीवन और मृत्यु को एक साथ ही तो नहीं साधा जा सकता है ? लेकिन जो आत्मवंचना में जीता है और आत्मज्ञान को भी उपलब्ध होना चाहता है, वह ऐसी ही स्वविरोधी कामना कर रहा है । जिसने निरंतर अपने आपको ही धोखा दिया है वह स्वयं को कैसे जान सकता है ? हो सकता है वह अंतिम धोखा और दे ले और बिना स्वयं को जाने और समझे, मानले कि मैंने स्वयं को जान लिया है । और यह धोखा भी हम देते हैं । शास्त्र से पढ लेते हैं आत्मा की बातें और सुन लेते हैं परंपराओं से परमात्मा के विचार । और उन्हें सीख लेते हैं और इस भांति उन बातों को करने लगते हैं कि जैसे हम उन्हें जानते ही हों ! जैसे हमने उन्हें जिया हो और पाया हो । ऐसे उधार ज्ञान को हम अपना ही ज्ञान मान लेते हैं । यह अंतिम धोखा है जो कि कोई भी आदमी अपने आपको दे सकता है । पंडित इसी भांति अपने को धोखा दे लेता है । जो उसने नहीं जाना है, जो उसने मात्र सुना है और सीखा है, जो उसने मात्र पढा है और स्मरण कर लिया है, उसे भी वह ज्ञान मान लेता है ।

हम जो यहां एकत्रित हैं, हम सभी ऐसी ही मनोदशा में हैं । हममें से कोई ईश्वर को मानता होगा, कोई आत्मा को मानता होगा और कोई मोक्ष को मानता होगा । और हममें से कोई भी नहीं जानता है इन बातों की सचाई । लेकिन निरंतर इन बातों को दोहराते रहने से ऐसा भ्रम पैदा हो जाता है जैसे कि हम उन्हें जानते ही हैं । और जब हम दूसरों को भी ये बातें समझाने लगते हैं तब तो पागलपन की हद ही हो जाती है ! क्योंकि जब हमें समझनेवाले लोगों की आंखों में ऐसी झलक दिखाई पडती है कि हमारी बातें उनकी समझ में आ रही हैं तो उनकी आंखों में यह झलक देखकर हमको खुद यह विश्वास आ जाता है कि हम जो बातें कह रहे वे जरुर सत्य हैं और हम सत्य के ज्ञाता हैं ।

अमरीका में एक आदमी ने सबसे पहले बैंक डाला था । बाद में जब वह बूढा हो गया था तो उसके एक मित्र ने उससे पूछा था कि उसने सबसे पहला बैंक किस तरह शुरु किया था ? वह बूढा बोला था : मैंने एक तख्ती बनवाई । जिस पर मैंने लिख दिया "बैंक" । और उसे घर के सामने टांग दिया । और मैं एक पेटी और किताबें लेकर बैठ गया । पीछे कोई घंटे भर बाद एक आदमी आया और उसने पचास रुपये जमा करवाये । फिर कोई दो घंटे बाद एक आदमी आया और उसने भी डेढ सौ रुपये जमा करवाये । उन दोनों आदमियों को रुपये जमा करवाते देखकर मेरा स्वयं का आत्म-विश्वास इतना बढ गया कि मैंने भी पचास रुपये बैंक में जमा करवा दिये थे । तब तक

मैंने अपने ही रुपये अपने ही बैंक में जमा नहीं किये थे, लेकिन दूसरों को वैसा करते देखकर मेरा भी साहस बढ गया था और मैंने भी रुपये जमा कर दिये थे। और फिर ऐसे ही धीरे धीरे बैंक चल पडा था।

शास्त्रों से हम शब्द सीख लेते हैं। उन शब्दों को हम दूसरों को बताने लगते हैं। और उनकी आंखों में अगर हमें ऐसी झलक दिखाई पडती है कि हां उन्हें बात ठीक लगती है तो हमारा खुद का विश्वास बढ जाता है, और हमें लगता है कि जो हम कह रहे हैं वह बिल्कुल सही है। और इस भांति शब्द ज्ञान बन जाते हैं। शब्द . . . जो कि बिल्कुल उधार और बासी हैं। और जिनका सत्य से दूर का भी वास्ता नहीं है। लेकिन ऐसे वे ही मृत शब्द सत्य की जीवन्त संपदा प्रतीत होने लगते हैं। ऐसे कोरी स्मरण शक्ति ज्ञान बनके हमारे मस्तिष्कों में बैठ जाती है। शास्त्रों को, सिद्धांतों को हम स्मरण कर लेते हैं और भूल जाते हैं कि हम कुछ भी नहीं जानते हैं। यह अंतिम धोखा है जो आदमी अपने को दे सकता है।

यदि मैं आपसे पूछूं, ईश्वर है ? और आप चुप रह जायें, और कहें मुझे कुछ भी पता नहीं. . . मैं निपट अज्ञानी हूं। तो मैं कहूंगा कि आप एक धार्मिक आदमी हैं। आप अपने को धोखा नहीं दे रहे हैं। लेकिन अगर आप कहें कि हां ईश्वर है, और इस रंग का है और इस शक्ल का है और इस मंदिरवाला सच्चा है और दूसरे मंदिरवाला झूठा है तो मैं आपसे कहूंगा कि आपने अपने आपको धोखा देना शुरु कर दिया है।

ईश्वर .. . . . ईश्वर जैसा सत्य हमें कहां ज्ञात है ? वह अज्ञात (unknown) है और शायद अज्ञेय (unknowable) भी है। लेकिन हम चार शब्दों को सीख लेते हैं और कहने लगते हैं : हमें ज्ञात है। आह ! झूठे आदमी। आह ! आत्म-वंचक मनुष्य। या, कोई कहे कि ईश्वर. . . ईश्वर तो है ही नहीं। तो यह भी पहले ही जैसी मूढता है। तथाकथित आस्तिकों और नास्तिकों की मूढतायें एक ही भांति की हैं। दोनों की वंचना समान है। वह वंचना ज्ञान की वंचना है। वह धोखा जानने का धोखा है। इसलिये धार्मिक व्यक्ति न तो आस्तिक होता है, न नास्तिक ही होता है क्योंकि आत्मवंचक होने की सुविधा ही उसे नहीं है। वह तो स्पष्ट जानता है कि मैं नहीं जानता हूं। वह ज्ञान को नहीं जानता है। वह तो अपने अज्ञान को ही जानता है। और जो यह जानता है. . . जो अपने अज्ञान के प्रति सजग और सचेत है, वह न तो तथाकथित सिद्धांतों और शास्त्रों और शब्दों को कोई स्वीकृति ही देता है और न अस्वीकृति ही। उस संबंध में वह अनाग्रही और तटस्थ और मौन होता है। वह तो बस इतना ही कह सकता है कि मैं नहीं जानता हूं। और इस सरलता से, इस सच्चाई से, उसके भीतर एक अन्वेषण की शुरुआत होती है...एक खोज की शुरुआत होती है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन की सारी वास्तविकता, सारे तथ्य अत्यंत निर्ममता से और सच्चाई से देख लेना जरुरी हैं। इस निर्मम और कठोर तथ्य दर्शन के तीन सूत्रों पर मैं आज आपसे बात करना चाहता हूं। और स्मरण रहे कि तथ्य दर्शन, सत्य दर्शन की अनिवार्य सीढी है।

पहला सूत्र है: विचार।

लेकिन हमने तो अपने जीवन में विचार के लिये कोई स्थान ही नहीं बनाया है। हम तो बस विश्वास से ही जिये चले जाते हैं। और जो आदमी विश्वास से जीता है वह अंधा हो जाता है। विश्वास का अर्थ है जो हम नहीं जानते उसे भी मान लेते हैं। और जब हमारी यह आदत हो जाती है कि जो हम नहीं जानते उसे मान लेते हैं तो धीरे धीरे जीवन अंधा हो जाता है। और आत्मा आंखें खो देती हैं। विश्वास नहीं. . .आत्म निरीक्षण के लिये चाहिये विचार। तीव्र विचार। उत्कट और सतेज विचार। सत्य की खोज में अत्यंत पैनी विचारशीलता की अपेक्षा है. . . जो कि हमारे सारे अंधकार और अंधेपन को काट सके। लेकिन शायद हमने विचार करने की आदत ही खो दी है। वैसे हम बहुत विचारों से भरे मालूम पडते हैं। लेकिन मैं आपसे कहता हूं विचार आप कभी नहीं करते हैं। विचारों से जरुर भरे रहते हैं। लेकिन विचार आपने कभी शायद ही किया हो। विचारों की असंगत और असम्बद्ध भीड का नाम विचार नहीं है। विचार तो आत्म शक्ति है। वह तो किसी प्रश्न पर स्वयं का सचेत होना है। विचार किसी समस्या के साक्षात्कार की प्रक्रिया है। वह समस्या के आमने सामने खडा होना है। वह समस्याओं से चेतना का सीधा संस्पर्श है। वह देखना है. . . . खोजना है. . तौलना है। विचार न तो अंधी स्वीकृति है न अस्वीकृति। वह एक ठिठकाव (Hesitation) है. . . . . संदेह है. . . तर्कानुसंधान है।

एक अदभुत व्यक्ति था, मुल्ला नसरुद्दीन। एक संध्या किसी ने उसे थोडा सा मांस भेंट में दे दिया था। कोई तीन पौंड के करीब वह मांस रहा होगा। वह घर आया। उसने अपनी पत्नी को वह मांस दिया और कहा, आज बडे सुख का दिन है। रोटियों की जगह मांस मिल गया है। मैं जाऊं अपने एक दो मित्रों को भी बुला लाऊं, तू तब तक मांस तैयार कर। वह जब मित्रों को लेकर घर आया तब तक उसकी पत्नी ने मांस कहीं छिपा दिया था। वह मुल्ला के तर्क और विचार की परीक्षा लेना चाहती थी। मुल्ला के आते ही उसने कहा : माफ करें, बडी मुश्किल हो गई है, आप यहां से गये और घर की जो बिल्ली है वह मांस खा गई ? अब क्या होगा ? और आप हैं कि मित्रों को भी बुला लाये हैं ?

आप मुल्ला की जगह होते तो क्या करते ? वह बेचारा दो मित्रों को साथ ले आया था। वे द्वार पर खडे थे. . . और उसकी पत्नी कहती है कि मांस बिल्ली खा

गई है । यदि वह विश्वासी होता, अपनी पत्नी की बात मान लेता और चुप रह जाता । अविश्वासी होता तो मन ही मन में संदेह करता या झगडा खडा करता । लेकिन न तो वह विश्वासी था और न अविश्वासी । उसने क्या किया ? वह भागकर पडौसी की दुकान पर गया और तराजू ले आया और तराजू पर बिल्ली को रखकर तौल लिया । बिल्ली तीन पौन्ड निकली । उसने अपनी पत्नी से कहा कि यदि यह मांस है तो बिल्ली कहां है? और यदि यह बिल्ली है तो मांस कहां है ? (If this is the meat, where is the cat? and if this is the cat, then where is the meat?)

यह है विचार । यह आदमी विचार का उपयोग कर रहा है । वह चीजों को तौल रहा है, परख रहा है, माप रहा है, कसौटी पर कस रहा है । उसने कहा: अगर यह बिल्ली है तो फिर मांस कहां है ? तीन पौन्ड तो मांस ही था । और यदि तू कहती है. . . . . उसने पत्नी से कहा कि यह मांस ही है तो मैं पूछता हूं कि बिल्ली कहां है ?

उसकी पत्नी ने कभी सोचा भी न होगा कि बिल्ली तराजू पर तोली जायेगी । हमने जिन्दगी में तथ्यों को तराजू पर तौलना बहुत दिनों से बंद कर दिया है । हम आंख बंद करके या तो स्वीकार किये चले जाते हैं या अस्वीकार किये चले जाते हैं । लेकिन सदा आंख बंद करके । आंख खोलके जीवन के तथ्यों को और सचाईयों को हम तौलते ही नहीं हैं । और तब यदि धीरे धीरे हमारा रास्ता भटक जाता है और अंधकारपूर्ण हो जाता है तो आश्चर्य क्या है ? बंद आंखों के लिये प्रकाश हो भी कैसे सकता है ? नहीं, बंद आंखें नहीं, खुली आंखें चाहिये । विश्वास नहीं, विचार चाहिये । हर चीज की कसौटी चाहिये । जिन्दगी खिलवाड नहीं है । जिन्दगी एक परीक्षा है । जिन्दगी एक कसौटी है । जिन्दगी तो प्रतिपल एक चुनौती है । वह तो इस बात की चुनौती है कि हम अपने भीतर सोई शक्तियों को जगाते हैं या कि सोने ही देते हैं । और जो इस चुनौती को स्वीकार कर जाग जाते हैं, वे अमृत जीवन को उपलब्ध हो जाते हैं, और जो सोये ही रहते हैं, वे सबकुछ खो देते हैं ।

जो आदमी अंधविश्वास कर लेता है, उसके भीतर विचार की, तर्क की प्रतिभा जन्मती ही नहीं है । यदि कोई आदमी अपनी आंखों का उपयोग ही न करे और कुछ वर्षों तक आंखें बंद रखे, तो फिर उसकी आंखें काम करना बंद कर देंगी । यदि कोई अपने पैरों को बांध के बैठ जाये और कुछ वर्षों तक न उठे न चले तो उसके पैर चलना बंद कर देंगे । जिस शक्ति का उपयोग करना हम बंद कर देते हैं वह शक्ति क्षीण हो जाती है । जिस शक्ति का हम जितना अधिक उपयोग करते हैं वह उतनी ही

अधिक विकसित होती है। लेकिन हजारों साल से मनुष्य जाति का जिन लोगों ने शोषण किया है, उन्होंने चाहा ही नहीं कि मनुष्य सोच या विचार करे। क्योंकि विचार बडी खतरनाक बात है। विचार बहुत विद्रोही है। जो आदमी विचार करेगा उसका शोषण नहीं किया जा सकता। उसे धोखा नहीं दिया जा सकता। उसे गलत रास्तों पर नहीं ले जाया जा सकता। और आज तक मनुष्य जाति को कुछ थोडे से लोग, अपने हित और स्वार्थ में गलत रास्तों पर ले जाते रहे हैं। इसके लिये जरुर था कि वे मनुष्यों के भीतर विचार को पैदा ही न होने दें। इसलिये उन्होंने सिखाया विश्वास करो। धर्म पुरोहितों ने, राजनीतिज्ञों ने, धनपतियों ने सभी ने सिखाया : विश्वास करो। उन्होंने कहा : विश्वास फलदायी है, विश्वास धर्म का आधार है। जो विश्वास करता है वह परमात्मा को पा लेता है। ऐसे एक षडयंत्र मनुष्य के विरुद्ध चलता रहा है और उसे ऐसी बातें सिखाई जाती रही हैं जो कि निहायत झूठी और भ्रामक हैं। विश्वास से कभी कोई सत्य तक, ईश्वर तक न पहुंचा है न पहुंचेगा। क्योंकि जो खुली आंख चाहिये थी सत्य के निरीक्षण के लिये देखने को, दर्शन को, वह विश्वास बंद ही कर देता है।

जो व्यक्ति भी अपने जीवन को उघाडने को उत्सुक हुआ है, और अपने भीतर प्रवेश कर जीवन की शक्ति को जानने की आकांक्षा से भर गया है . . . उसे जानना चाहिये कि उसे विचार करना ही होगा. . . उसे विचार की अग्नि से गुजरना ही होगा क्योंकि उस अग्नि से गुजरे बिना वह तपा हुआ सोना नहीं बन सकता है। विश्वास तो निद्रा है। विश्वास तो आलस्य है। विश्वास तो प्रमाद है। विश्वास तो मुर्च्छा है। और विचार है तपश्चर्या। विचार कठिन तपश्चर्या है क्योंकि विचार चित्त के सारे भ्रम छीन लेता है। और भ्रम बहुत सुखदायी हैं। उनका छिन जाना दिल को चोट पहुंचाता है। उनके छिन जाने से बहुत घबडाहट होती है। भ्रम छिनते हैं तो आदमी बहुत बैचेनी अनुभव करता है। लेकिन सत्य तक पहुंचने के पहले भ्रमों का छिन जाना अत्यंत जरुरी है। विचार की तेज तलवार, भ्रमों के जाल को तोड देती है। इसलिये सोचना जरुरी है। दूसरे को स्वीकार या अस्वीकार करना नहीं, बल्कि स्वयं की समग्र चेतना से सोचना, विचारना जरुरी है। हर तथ्य को उलटना पलटना जरुरी है। उसे तराजू पर. . . तर्क के तराजू पर कसना जरुरी है। आह ! यह पूछना जरुरी है कि यदि यह मांस है तो फिर बिल्ली कहां है ?

इसलिये मैं कहता हूं कि सत्यानुसंधान का पहला सूत्र है : विचार।

और जिस व्यक्ति के भीतर विचार सजग हो उठता है उसके जीवन में एक अलग ही तेजस्विता पैदा हो जाती है। और जिसके भीतर विचार फीका है, उसके

जीवन में भी एक शिथिलता, एक उदासी, एक सुस्ती छाई रहती है । विचार महत् शक्ति है ।

मनुष्य के भीतर जो सबसे जीवन्त शक्ति है. . . . जो सबसे प्राणवान ऊर्जा है . . . . जो सबसे महान् तेजस्विता है. . . . जो सबसे ज्वलंत अग्नि है वह विचार की है । इसलिये स्वभावत: जिसके प्राण जितने विचारपूर्ण होते हैं, उसके जीवन में उतनी ही ताजगी और तेज आ जाता है । वह उतना ही जागरुक और प्रबुद्ध हो उठता है और उतना ही प्रकाश से भर जाता है । विचार ऊर्जा का ही प्रज्जवलित हो उठना तो प्रकाश है ।

लेकिन इस ऊर्जा को प्रज्जवलित होने से सदा रोका गया है । विचार के अंगारे को सदैव से ही विश्वास की राख से ढांके रखा गया है । इसलिये ही तो मनुष्यता इतनी दीन हीन. . . . इतनी वीर्यहीन और इतनी लघुता से भर गई है । मनुष्य के नाम पर यह जो पृथ्वी पर रेंगता प्राणी दिखाई पडता है, यही उस ऊर्जा के जागने से आकाश में उडनेवाला एक सबल. . . सतेज पक्षी भी हो सकता था ।

एक बहुत बडा विचारक था । वह एक दिन सुबह ही सुबह अपने गांव के तेली के घर तेल खरीदने गया था । तेली ने जबतक तेल तौला तबतक वह देखता रहा कि उसके पीछे ही तेली का कोल्हू चल रहा था । लेकिन वह बैल अपने आप ही कोल्हू को चला रहा था । उसे कोई चलानेवाला नहीं था । उसने तेली से पूछा: यह बैल बडा धार्मिक मालूम होता है ! इसे कोई चला नहीं रहा है, फिर भी यह चल रहा है ? इसका राज क्या है ? यह 'सुन उस तेली ने बडे मतलब की बात कही थी । उसने कहा था : देखते नहीं हैं आप कि बैल की आंखें हमने बंद कर रखी हैं ? जब आंख बंद होती है तो बैल को पता ही नहीं होता है कि उसे कोई चला रहा है या नहीं चला रहा है । आंख खुली होती तो बैल को ऐसा चलाना कठिन था । बैल कोई आदमी तो है नहीं कि आंखें होते हुये भी विश्वास करते और अंधा बन जाये ? बैल धार्मिक नहीं है, लेकिन उसकी आंखें बंद हैं, इसलिये धोखा खा रहा है । उस विचारक ने फिर भी पूछा : लेकिन वह कभी कभी खडा होकर जांच भी तो कर सकता है ? तुम्हें तो कैसे पता चलेगा ? तुम तो उसकी ओर पीठ किये बैठे हो ? वह तेली बोला : "उसके गले में हमने घंटी बांध रखी है । चलता है तो घंटी बजती रहती है । . . . . और जैसे ही घंटी रुकती है, हम फिर उसे चला देते हैं. . . . उसे कभी यह ख्याल भी नहीं आ पाता कि बीच में चलानेवाला गैर मौजूद था । उस विचारक ने कहा : 'लेकिन यह भी तो हो सकता है कि बैल खडा हो जाये और सिर हिलाता रहे और घंटी बजती रही ? फिर तो वह तेली बहुत घबडाके बोला : "महाराज, हम आपके हाथ जोडते हैं. . कृपा करके ऐसी बातें इतने जोर

से मत कहिये. . . . कहीं बैल आपकी बात सुनले तो हमारा तो सारा धंधा ही चौपट हो सकता है ?'

वह तेली बडा ईमानदार था । कमसे कम उसने सच्ची बात तो कही । आदमी के मालिक तो इतने भी ईमानदार नहीं हैं । वे भी नहीं चाहते हैं कि आदमी विचार की बातें सुने. . . विचार करे . . . विचारपूर्ण हो जावे, क्योंकि वे भी अपना धंधा चौपट नहीं करना चाहते हैं । विचार विद्रोह है । विचार आमूल क्रांति है । और इसलिये बैल का मालिक नहीं चाहता है कि विचार बैल तक पहुंच जाय । दुनिया में कोई मालिक नहीं चाहता है कि विचार गुलाम तक पहुंच जाय । और मनुष्य को जोता हुआ है, बहुत से बहुत से कोल्हुओं में । उससे काम करवाया जा रहा है और उसके गले में घंटियां बांध दी गई हैं जो कि सतत् बज रही हैं, और आदमी है कि आंख बंद किये चला जा रहा है । आंख उसकी किस बात से बंद है ? आंख विश्वास से बंद है । आदमी की आंख पर विश्वास की पट्टियां हैं । तभी तो एक रंग की पट्टी आदमी को मुसलमान बना देती है, दूसरे को हिन्दू, तीसरे को जैन, चौथे को ख्रिस्ती । अन्यथा आदमी आदमी में कोई भेद है ? कोई दीवार है ? कोई खाई है उन दोनों के बीच ? उनके प्रेम को रोकनेवाली कोई दीवार है ? नहीं । नहीं । नहीं । सिर्फ विश्वास के सिवाय और कोई दीवार नहीं है ।

मैं मुसलमान हो जाता हूं, आप हिन्दू हो जाते हैं । क्योंकि मुझे बचपन से दूसरे विश्वास का जहर पिलाया गया है और आपको दूसरे विश्वास का । जहर के रंग अलग हैं, नाम अलग हैं लेकिन जहर तो एक ही है । वह जहर है : अंधविश्वास का । आपकी आंखों पर दूसरे रंग की पट्टियां बांधी गई हैं और मेरी आंखों पर दूसरे रंग की । झंडों के रंग अलग अलग हैं लेकिन गुलामी एक है । वह गुलामी है अंधविश्वास की । और ऐसे प्रकाश के, दृष्टि के, विचार के सारे द्वार बंद कर दिये गये हैं । विचार नहीं है, और मनुष्य है । यह वैसे ही है, जैसे स्वांस न हो और शरीर हो । और फिर ये ही विचार छीन लेनेवाले. . . ये ही विचार की भ्रूणहत्या करनेवाले कहते हैं कि आदमी का बडा पतन हो गया है ! .. आदमी का पतन नहीं होगा, तो और क्या होगा ? विचार की हत्या मूलतः आदमियत की ही हत्या है । विचार के बिना आदमी के पास क्या बल है ? विचार के बिना उसकी आत्मा बिना रीढ की हो जाती हो तो आश्चर्य ही क्या है ? और इस सबका हमें ख्याल ही नहीं है. . . और यदि कभी कोई ख्याल दिखानेवाला आ जाता है तो आदमी के शोषक उससे कहते हैं : महाराज, आप यहां से जाइये, आपकी बातें आदमी के हित में नहीं हैं । आदमी के हित यानी उनका हित । कोल्हू के बैल का हित यानी तेली का हित ! और यदि ऐसे व्यक्ति फिर भी चुप नहीं

होते हैं तो उन्हें चुप करा दिया जाता है, और मजा तो यह है कि तेली तो तेली बैल भी उन्हें चुप कराने में बडा श्रम उठाते हैं ! दुनिया में जब भी विचार को जन्म देनेवाले लोग पैदा हुये तो हमने उनकी हत्या कर दी है । हमने उनको शूली पर लटका दिया या जहर पिला दिया । सुकरात को यूनान ने जहर पिलाया था । वह एक आदमी था, जिसने विचार के लिये कोशिश की थी । वह एथेन्स की सडकों पर गया और लोगों को चिल्ला चिल्ला के जगाने लगा कि तुम सोये हुये हो, तुम अंधे हो । आदमी के सोयेपन में, आदमी के अंधेपन में जिनके निहित स्वार्थ थे, उन्होंने फिर सुकरात को बर्दाश्त नहीं किया । उन्होंने कहा यह आदमी समाप्त कर दिया जाना जरुरी है । क्योंकि यह ऐसी बातें कह रहा है कि अगर लोगों ने सुन लीं तो फिर उनका किसी तरह शोषण न किया जा सकेगा । तो सुकरात को उन्होंने कहा कि तुम लोगों को बिगाड रहे हो । जरुर यही तो उस तेली ने उस विचारक को कहा था कि महाराज धीरे बोलें और बैल को न बिगाडें । सुकरात को जहर दे दिया गया था । वह जहर विचार को ही दिया गया जहर था । सुकरात का विचार के अतिरिक्त और तो कोई अपराध न था ! और इधर तीन चार हजार वर्षों में जब भी विचार की कोई किरण मनुष्य के भीतर पैदा होने को हुई, और ऐसा डर पैदा होने लगा कि हवायें कहीं उसे दूर-दूर न ले जायें और वह सबके हृदय में सोयी आत्मा की चिनगारी न जला दे, तभी जल्दी से जो स्वार्थांध थे उन्होंने उसकी हत्या कर दी । आह !.. विचार की आग को सदा ही बझाया जाता रहा है ।

आज भी हम करीब करीब वैसे ही अंधेरे में खडे हैं, जैसे सुकरात के वख्त के लोग थे । कोई फर्क पैदा नहीं हुआ । शायद एक साजिश (conspiracy) है, एक षडयंत्र है, समस्त के अहित में और कुछ लोगों के हित में कि समस्त मनुष्य जाति अंधी बनी रहे । फिर इन अंधे लोगों से कुछ भी करवाया जा सकता है, इनसे कहा जा सकता है कि इस्लाम खतरे में है तो आग लगाओ हिन्दुओं के घर में तो ये अंधे आदमी आग लगायेंगे । ये न पूछेंगे कि लोगों के मकान में आग लगाने से धर्म का क्या संबंध हो सकता है ? जब, इनसे कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म खतरे में है, जलाओ मस्जिदों को । तो ये मस्जिदों को जलायेंगे । निहत्थे बच्चों की हत्या कर देंगे और ये यह न पूछेंगे कि हिन्दू धर्म की रक्षा का किसी के बच्चे की हत्या करने से कौनसा संबंध है ? ये पूछेंगे ही नहीं क्योंकि पूछता वह है जो विचार करता है । जो विश्वास करता है वह पूछता ही नहीं है । वह तो प्रश्न खडे ही नहीं करता है । उसको तो जो कहा जाता है : वही परम सत्य है । आज्ञा . . . . आज्ञा ही होती है । उसे, वह तो उसे बस स्वीकार ही कर सकता है । इसीलिये तो दुनिया में आज तक न मालूम किस

किस तरह की बेवकूफियां (Non-sense) आदमी को समझाई जाती रही हैं और करवाई जाती रही हैं। और इन बेवकूफियों के लिये उसे लडाया जाता रहा है, उसकी हत्या करवाई जाती रही है और वह सब करता रहा है जो कि कोई केवल पागलपन में ही कर सकता है। विश्वास विक्षिप्तता लानेवाले तत्वों में अग्रणी रहा है। सब प्रकार के पागलपनों को जन्मने का राज (secret) है। विचार तो पूछेगा, विचार तो झिझकेगा, विचार तो सोचेगा, विचार तो संदेह करेगा, लेकिन विश्वास न पूछता है, न सोचता है, न संदेह करता है, न झिझकता है। वह तो बस करता है. . . जो कहा जाता है, वह वही करता है। यह मनुष्य को मशीन बना देने की कीमिया है।

इसलिये जो लोग उपद्रव जारी रखना चाहते हैं दुनिया में, शोषण जारी रखना चाहते हैं, युद्ध जारी रखना चाहते हैं, वे नहीं चाहते हैं कि विचार पैदा हो। वे चाहते हैं विश्वास रहे। हिटलर भी वही चाहता है, स्टेलिन भी वही चाहते हैं। दुनिया के और नेता भी वही चाहते हैं, धर्मनेता भी वही चाहते हैं। इसलिये मैं कहता हूँ कि चाहे वे धार्मिक नेता हों, चाहे राजनैतिक, वे सब एक बात से सहमत हैं कि वृहत्तर मनुष्यता की आंखें नहीं खुलनी चाहिये। शायद नेताओं का जीवन इसी में है कि जनता अंधी है क्योंकि आंखेंवाले लोग न तो किसी को नेता बनाते हैं, न गुरु बनाते हैं। यह काम तो वे अपनी आंखों से ही ले लेते हैं। नेताओं के लिये, गुरुओं के लिये अंधों का होना जरुरी है। और अंधे नेताओं और अंधे गुरुओं के लिये तो अंधों का होना बिल्कुल ही जरुरी है। इसीलिये ही तो वे जाने या अनजाने किसी एक ही षडयंत्र के साझीदार हैं।

मैं आपसे आंख खोलने के लिये निवेदन करता हूं।

मनुष्य अंधा नहीं है। वह अंधा बना हुआ है। उसे अंधा बनाया गया है। यह अंधापन मनुष्य निर्मित (Man-manufactured) है।

जिन्दगी अंधे की तरह स्वीकार करने की चीज नहीं, खुली आंखों से खोजने की बात है। लेकिन हमने सब उत्तर बिना सोचे स्वीकार कर लिये हैं, इसीलिये तो हमारा सारा ज्ञान मुर्दा है। उसमें जीवन नहीं है, उसमें जीवन्त गुण (Living Quality) नहीं है। जो ज्ञान हम स्वयं खोजसे उपलब्ध करते हैं, उसमें जीवन्तता होती है, उसमें जीवन होता है। जो ज्ञान हम चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं वह मृत होता है।

एक गांव में दो मंदिर थे। उन दोनों मंदिरों में पुस्तैनी झगडा था, जैसा कि मंदिरों में सदा ही होता है। वे दोनों मंदिर हमेशा से एक दूसरे के दुश्मन थे। वह दुश्मनी बडी पुरानी थी। अनेक पीढियां मर चुकी थीं। लेकिन दुश्मनी कायम थी। क्योंकि मां-बाप, अपने बच्चों को इतना प्रेम करते हैं कि वे अपनी दुश्मनी भी बपौती

में दे जाते हैं। उन मंदिरों के पुजारी बदलते गये थे। हजारों साल पुराने वे मंदिर लेकिन हर पुजारी नये पुजारी को बपौती दे गया था कि उनमें आपस में कोई बोलचाल न था। किन धर्मों में आपस में बोलचाल है ? मंदिर और मस्जिद में बोलचाल है ? चर्च और मंदिर में बोलचाल है ? कहीं कोई बोलचाल नहीं है। उनके बीच भी नहीं था। उन दोनों मंदिरों में भी नहीं था।

लेकिन उन दोनों मंदिरों के पुजारियों के पास दो छोटे छोटे बच्चे थे। जो छोटी-मोटी सेवा टहल के लिये, छोटेमोटे काम करदेने के लिये थे। अब बच्चे बच्चे हैं। वे दोनों कभी आपस में रास्ते में मिल जाते थे तो हंस बोल भी लेते थे। बच्चों को बूढे बिगाडते तो हैं लेकिन वख्त लग जाता है बिगाडने में। बच्चे आखिर बच्चे हैं एकदम से नहीं बिगाडे जा सकते हैं ? हालांकि पुजारी समझाते थे कि देखो दूसरे मंदिर के बच्चे से बात मत करना, लेकिन फिर भी बच्चे बच्चे हैं, बिगाडने में वख्त लग जाता है। वे कभी बोल लेते थे।

एक दिन उत्तर के मंदिर के पुजारी ने देखा, कि उसका बच्चा दक्षिण के मंदिर के बच्चे से बातें कर रहा है, तो जब वह वापिस लौटा तो उसने उसे डांटा और पूछा कि तुम क्या बात कर रहे थे ? और क्या मैंने नहीं कहा है कि बात मत किया करो ? उस लडके ने कहा : मैं खुद ही आपसे पू छने को था। आज कुछ ऐसी बात घट गई है कि मैं निरुत्तर हो गया हूं। मैंने उस लडके से पूछा: उस मंदिर के लडके से कि तू कहां जा रहा है ? वह लडका बोला : 'जहां पैर ले जायें।' और तब मेरी समझ में कुछ भी न आयाकि अब मैं उससे और आगे क्या कहूं ? यह सुन वह पुजारी बहुत नाराज हुआ और उसने कहा कि यह तो बहुत बुरी बात है। उस मंदिर के बच्चे से हार जाना तो हमारे मंदिर की तोहीन है। और ऐसा तो कभी नहीं हुआ। हम तो सदा ही उस मंदिर से जीतते रहे हैं। तो तुम कल फिर वही बात पूछना : कहां जा रहे हो ? और जब वह कहे जहां मेरे पैर ले जायें, तो तुम उससे कहना कि और समझ लो कि यदि तुम्हारे पैर न होते तो तुम कहां जाते ? कहीं जाते कि नहीं ? तो फिर वह भी ठगा सा रह जायेगा। उसको भी फिर सूझ नहीं पडेगा कि क्या कहे और उसे निरुत्तर करना अत्यंत आवश्यक है।

दूसरे दिन नियत जगह पर जाकर वह लडका खडा हो गया। उस मंदिर का लडका निकला। उसने पूछा: कहां जा रहे हो, मित्र ? लेकिन उस लडके ने नहीं कहा कि जहां पैर ले जायें। उस लडके ने कहा: जहां हवायें ले जायें। अब तो बहुत मुश्किल हो गई। बंधा हुआ उत्तर तैयार था, लेकिन उसको देने का अब तो कोई मतलब नहीं। तैयार कर वह आया था कि कहूंगा कि अगर तुम्हारे पैर न होते तो

फिर कहीं जाते कि नहीं? लेकिन अब उसके कहने का कोई अर्थ न था। बडा क्रोध आया उसे उस लडके पर कि यह लडका तो बडा बेईमान है। कल कुछ कहा, आज कुछ कहने लगा। वह फिर लौट आया अपने पुजारी के पास और उससे कहा कि मैं आज भी हार गया हूं। वह लडका तो बहुत बेईमान मालूम होता है। उसके गुरु ने कहा : बेईमान लडका ? हजार साल से उस मंदिर में बेईमानों के सिवा कभी कोई रहा नहीं। जरा सी बात में बदल जाते हैं वो लोग। लेकिन तुम डरो मत। कल तुम फिर पूछना। और वह कहे कि जहां हवायें ले जायें, तो कहना, अगर हवायें बंद हों तो कहीं जाओगे कि नहीं ? वह लडका फिर नियत जगह पर आकर खडा हो गया। उसके पास अपना कोई विचार तो था नहीं। अपनी कोई बुद्धि तो थी नहीं। अपना कोई चिन्तन तो था नहीं। बंधे हुये उत्तर थे। वह उन्हें ही लेके वहां जाके खडा हो गया। जैसे कि हम सब बंधे हुये उत्तर लेकर खडे हैं वैसे वह भी खडा हो गया। फिर उसने लडके से पूछा: कहां जा रहे हो मित्र ? वह लडका तो सच में ही बेईमान था, जैसी कि जिन्दगी ही बेईमान है। क्योंकि जिन्दगी भी यूं ही बदल जाती है। उस लडके ने कहा: सब्जी खरीदने जा रहा हूं। और वह हवाओं का बंधा हुआ प्रश्न और उत्तर वहीं के वहीं रह गये। जिन्दगी भी बंधे हुये उत्तर नहीं मानती। रोज जिन्दगी प्रश्न बदलती है और हमारे उत्तर बंधे बंधाये सीखे हुये तैयार रखे रह जाते हैं। जिन्दगी बंधे हुये उत्तर नहीं चाहती। जिन्दगी चाहती है विचारपूर्ण चेतना। जो भी प्रश्न खडा हो वह उस चेतना में प्रतिफलित होगा। चेतना में वह गूंजेगा। उसकी चुनौती होगी और फिर उत्तर आयेगा। उत्तर तैयार नहीं होगा। केवल चेतना तैयार होगी। यह तैयारी विश्वास की नहीं विचार की तैयारी है। यह तैयारी जड शब्दों की स्मृति नहीं, जीवन्त चैतन्य की तैयारी है।

विश्वास में उत्तर सीखा हुआ, बंधा हुआ होता है। वह हम गीता से सीखते हैं, बाईबिल से सीखते हैं, कुरान से सीखते हैं। कृष्ण से, महावीर से, क्राइस्ट से सीखते हैं। वह उत्तर हम किसी से सीख के आते हैं और जिन्दगी के चौराहे पर खडे हो जाते हैं। और जिन्दगी रोज बदलती है, हमारा उत्तर पीछे पड जाता है, और हम परेशान हो जाते हैं। जो आदमी सीखे हुये उत्तर बांध लेता है अपने मन में, उसका जिन्दगी से कभी मेल नहीं हो पाता। जिन्दगी रोज आगे बढ जाती है। जिन्दगी की गंगा ठहरती नहीं। वह आपके बंधे हुये उत्तरों के लिये नहीं है। वह रोज नई हो जाती है और नये प्रश्न खडा कर देती है। आप अपनी किताब खोलकर जब तक उत्तर खोजते हैं तब तक आप आंख उठाके देखते हैं जिन्दगी और आगे बढ गई है . . उसने और नये प्रश्न खडे कर दिये हैं। आप हमेशा पीछे रह जाते हैं। विश्वास करनेवाला हमेशा पीछे

रह जाता है । जिन्दगी से उसका संपर्क नहीं हो पाता है । क्योंकि विश्वास दूसरे से गृहण करने पडते हैं । और दूसरे से गृहण करने में बासी हो जाते हैं । बंधे बंधाये हो जाते हैं । मृत (Dead) हो जाते हैं । मुर्दा हो जाते हैं । उनका बोझ तो जीवन पर हो जाता है । लेकिन जीवन को वे निर्भार नहीं कर पाते हैं । इसलिये पहला साधना सूत्र है कि स्वयं के विचार की शक्ति को जगायें । कैसे जगेगी यह शक्ति ? विचार करेंगे तो जगेगी । सोचें । जीवन के हर पहलू को ऐसे ही स्वीकार न कर लें । सोचें । तराजू उठा लें तर्क का, और तोलें और विचार की कसौटी पर जो खरा न उतर पावे, चाहे वह कितना ही प्रीतिकर लगे, चाहे वह कितना ही सुखद मालूम हो, चाहे वह कितनी ही सांत्वना देता हो, हिम्मत करें और उसे स्वीकार न करें और तब तक प्रतीक्षा करें जब तक वह विचार की कसौटी पर सही न उतर आये । बहुत तपश्चर्या की बात है, कठिन बात है । हमारा मन तो बस चुपचाप मानने को राजी हो जाता है । कौन मेहनत करे ? विचार तो श्रम है । विश्वास में कोई श्रम नहीं । मैंने कह दिया और आपने मान लिया । आपको कुछ भी न करना पडा । आप खोज में सहयोगी ही न हुये । आप सक्रिय ही न हुये । आप दूर खडे रहे । मैंने कहा और आपने मान लिया । यह तो बडी जडता है । यह तो बडी आत्मघाती वृत्ति है । और जो इस तरह निष्क्रिय रुप से सब कुछ स्वीकार कर लेता है उसकी आंखें सदा के लिये बंद ही रह जाती हैं ।

जीवन तो एक सतत् सक्रियता है ।

जीवन तो एक सतत् सृजन है ।

और इसलिये जो उसे सक्रिय और सृजनात्मक विचार बना लेता है, केवल वही उसे जान और जी पाता है ।

यह पहला सूत्र है ।

और दूसरा सूत्र क्या है ?

दूसरा सूत्र है : निष्पक्षता । क्योंकि निष्पक्षता के बिना विचार संभव ही नहीं है । विचार का बीज निष्पक्षता की भूमि में ही अंकुरित होता है । पक्ष से बंधना विचार के पंख ही काट देने जैसा है ।

जो व्यक्ति किसी पक्ष में बंध जाता है वह सोच विचार नहीं कर सकता है । उसकी तो जाने अनजाने यही इच्छा होती है कि मेरा पक्ष ही सही सिद्ध हो जाये । वह फिर निष्पक्ष (Unprejudiced) नहीं हो पाता है । उसके मन का तो लगाव होता है कि यही सही हो । अगर आप हिन्दू हैं तो आप सत्य की खोज नहीं कर रहे हैं । आप फिर इस बात की खोज कर रहे हैं कि हिन्दू होना कैसे सच्चा सिद्ध हो ? कैसे यह मान लिया जाये कि हिन्दू ही सही है । फिर आपकी यही खोज चल रही है । यह

खोज फिर निष्पक्ष सत्य की खोज नहीं है । आपने अपना पक्ष तय कर लिया है । आप पहले से ही निर्णय कर चुके हैं । और तब फिर बात बहुत आसान है । जो आदमी पहले से किसी पक्ष को तय कर लेता है वह फिर सरलता से उसके लिये तर्क भी जुटा लेता है और गवाहियां भी जुटा लेता है । जिन्दगी तो बहुत विराट है । जिन्दगी तो बहुत जटिल है । जिन्दगी तो असीम और अनन्त है । और इसलिये उसमें से कुछ भी खोजा जा सकता है । उसमें से अपने पक्ष में चुनाव किया जाता है । और ऐसे किसी भी भ्रांति को, किसी भी असत्य को, सत्य बना लिया जा सकता है । पक्षपाती चित्त ऐसे ही असत्यों को सत्य बनाने के व्यर्थ श्रम में संलग्न रहता है । वह सत्य की खोज नहीं करता, वह तो सत्यों का निर्माण करता है । वह तो सत्यों को ढालता है । और इससे ज्यादा अज्ञानपूर्ण बात और कोई भी नहीं हो सकती है । सत्य भी क्या ढाले जा सकते हैं ? और जो ढाला जा सकता है, वह भी क्या सत्य हो सकता है ?

समझ लें तेरह का अंक अशुभ समझा जाता है । एक आदमी इसे सत्य सिद्ध करना चाहता है । वह तेरह तारीख को संसार में जितनी हत्यायें होती हैं, उन सबके आंकडे इकट्ठे कर लेता है, जितनी आत्महत्यायें होती हैं उनका हिसाब लगा लेता है, जितने लोग बीमार पडते हैं या जितने लोग मरते हैं, उनकी गणना कर लेता है, जितनी दुर्घटनायें होती हैं, जितने डाके डाले जाते हैं, जितने मकान गिरते हैं, आगें लगती हैं, भूकम्प होते हैं य. और जो कुछ दुखद या अशुभ होता है, उस सबका जोड लगा लेता है । ऐसे वह सिद्ध कर सकता है कि तेरह का अंक अशुभ है । और वह या भी कह सकता है कि उसने वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया है ! लेकिन यदि कोई चाहे तो ऐसे ही बारह के या ग्यारह के अंक को भी इतनी ही वैज्ञानिक विधि से अशुभ सिद्ध कर सकता है । और कोई चाहे तो तेरह के ही अंक को इतनी ही वैज्ञानिक विधि से शुभ अंक भी सिद्ध कर सकता है । इसमें से जो भी सिद्ध करना हो उसे सिद्ध करने के लिये एक अपेक्षा जरुर प्रत्येक के लिये ही आवश्यक है और वह यह कि जो भी सिद्ध करना हो उसे पहले से ही सिद्ध मान लेना आवश्यक है । विश्वास मात्र की यात्रा इसी रूप में होती है । जबकि विचार की यात्रा इससे पूर्णतया भिन्न और एकदम विरोधी है । विश्वास पूर्व से ही मानकर चलता है और जो मानकर चलता है वहीं पहुंच जाता है । विचार कुछ भी मानकर नहीं चलता है और जो वस्तुतः है, वहीं पहुंचता है । विश्वास स्वीकृत कल्पनाओं और अनुमानों का मानसिक प्रक्षेपण है । वह उसे ही खोज लेता है, जिसे कि उसने अपने पूर्वाग्रह में पहले ही सत्य मान लिया है । विश्वास में कल्पना और श्रद्धा प्रथम है और पीछे जो सत्य उपलब्ध होता प्रतीत होता है वह उनकी ही उत्पत्ति है । निश्चय ही ऐसा सत्य असत्यही हो सकता है । विचार में खोज है प्रथम...

सत्य है प्रथम और सत्य ही है अंतिम । विचार के लिये न कल्पना है, न श्रद्धा है. . . विचार के लिये तो बस सत्य है और सत्य है । विचार के लिये श्रद्धा नहीं बस ज्ञान है । और ज्ञान के लिये न श्रद्धा की अपेक्षा है, न अश्रद्धा की । ज्ञान तो स्वयंभू है । वह तो अपने आपमें ही पूर्ण है । उसके लिये स्वयं के अतिरिक्त और किसी की भी अपेक्षा नहीं है । लेकिन अज्ञान को अपनी आत्मरक्षा के लिये श्रद्धा चाहिये, विश्वास चाहिये, कल्पना चाहिये । उनके बिना अज्ञान नहीं जी सकता है । उसके लिये तो अंधापन अनिवार्य है । लेकिन अंधापन (Blindness) बुद्धिमत्ता नहीं है । न ही वह वैज्ञानिकता है । वह तो अत्यंत अबुद्धिपूर्ण (Irrational) और अवैज्ञानिक दृष्टि है । जिन्दगी के प्रति जो इस भांति का रुख लेता है, वह तो जो चाहे सिद्ध कर सकता है । लेकिन उसे सिद्ध करने से कोई सत्य की खोज नहीं हो सकती । निष्पक्ष होना चाहिये, कोरे कागज की भांति । शून्य और रिक्त और पूर्णतया खाली । और फिर जीवन की खोज में जाना चाहिये । पहले से कुछ भी निर्धारित न हो । पूर्व से कुछ भी स्वीकृत न हो । शुभ और अशुभ, सत्य और असत्य, सुन्दर और असुन्दर, मैं पहले से कुछ भी तय करके न जाऊं । मेरा मन खुला (Open) हो । मेरी बुद्धि मुक्त हो । मेरा चित्त निर्बन्ध हो । और जीवन जो भी कहे उसे मैं सुनने को राजी होऊं । और जीवन जो भी दिखाये मैं उसे देखने को तैयार होऊं । और जीवन जो भी हो, और जैसा भी हो वह मुझे अपने स्वागत को तत्पर पाये । और तब ही केवल उसे जाना जा सकता है जो कि है. . . जो कि जीवन है . . . जो कि सत्य है. . जो कि परमात्मा है ।

इसलिये मैं कहता हूं कि 'जो है' (That which is) उसकी खोज में दूसरा हमारा सूत्र है : निष्पक्षता (Unprejudicedness) क्या हमारे मन निष्पक्ष हैं? क्या चित्त तटस्थ है ? क्या हम निर्बन्ध और मुक्त हैं ? यदि नहीं तो जान लेना कि फिर आपने कभी न कुछ सोचा है, न विचारा है, न जाना और न जिया है । क्योंकि, निष्पक्ष हुये बिना कोई सोच ही नहीं सकता है । क्योंकि तटस्थ हुये बिना कोई कुछ जान ही नहीं सकता है । क्योंकि निर्बन्ध (untehered) और मुक्त चित्तता के अतिरिक्त जीवन को सीधा और प्रत्यक्ष और ताजा और मौलिक जीने का कोई मार्ग ही नहीं है । बंधा हुआ मन और पक्षों में कैदी व्यक्तित्व सदा ही उधार और अमौलिक (Second-Hand) जीवन ही जीता है । वह सदा बासा और जूठा जीवन ही जीता है । और वह भी कोई जीवन है. . . वह भी कोई जीवन का स्वाद है ? और मनुष्यता का दुर्भाग्य कि हम सदा ऐसा ही जीवन जीते रहे हैं । हमारा चित्त अमुक्त है . . बंद है. . .कारागृह में है । हमारा ज्ञान हमारी अनुभूति. . . हमारा जीना सभी कुछ तो इसीलिये बेस्वाद, बासा और मुर्दा हो गया है । और इसका मूल कारण क्या है ? यही कि

हम सब पक्षधर हैं . . . यही कि हम सब सांप्रदायिक हैं . . यही कि हम सब बंधे हैं. . . यही कि जीवन की ताजी हवायें और किरणें और ध्वनियां हमारे बंद मनों (closed minds) के बंद द्वारों से टकराती हैं और वापस लौट जाती हैं और हम सब अपने सीलन भरे, सडे और गंदे कक्षों में जिये चले जाते हैं । मित्रो, तोड दो पक्षों की दीवारों को. . . तोड दो विश्वासों के बंद द्वारों को . . तोड दो उस सबको जो तुम्हें कैद किये है और तुम्हारी आत्मा का कारागृह बना हुआ है । आह ! तभी तो तुम उसे पा सकते हो जो कि परमात्मा है ।

लेकिन नहीं, शायद यह हमारी चाह ही नहीं है ।

हम तो शायद कुछ और ही चाहते हैं ।

क्या आप चाहते हैं कि सत्य आपके पीछे चले . . . सत्य आपकी छाया हो । यदि हां ! तो सत्यसे आपका कभी कोई संस्पर्श नहीं हो सकता है । फिर आप असत्य में ही जियेंगे और असत्य के लिये विश्वासियों और पक्षपातियों के कारागृह उचित ही स्थल हैं । असत्य का मंदिर पक्षपात की दीवारों से ही निर्मित होता है और असत्य का अंधकार, असत्य का देवता चित्त के खुले झरोखों, खुली खिडकियों और खुले द्वारों को बिल्कुल ही पसंद नहीं करता है । मित्रो, तब तो उचित है कि आप मेरी बातें भी न सुनें । कान बंद कर लें और यहां से भाग जावें । वैसे शास्त्र भी यही सलाह देते हैं और सद्गुरु भी यही सलाह देते हैं !

लेकिन यदि सत्य के बीज ने आपके प्राणों में अंकुरित होने की अभीप्सा की है और यदि सत्य के अज्ञात तटों ने आपको पुकारा है तो फिर उन जंजीरों को तोड दें जिनमें आपने स्वयं ही अपने आपको बांध रखा है । उनके टूटने से जंजीरों के अतिरिक्त और कुछ भी आपको खोने को नहीं है और मिलने को है : एक पूरा अज्ञात लोक. . . एक अमृत जीवन. . . एक छायातरु जिसके लिये कि प्रत्येक जीवन पथिक आतुर और प्यासा है । क्या आपके अशांत प्राणों ने शांति के शिखरों की ओर आंखें उठाई हैं ? तो सत्य के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, तो सत्य के अतिरिक्त और कोई द्वार नहीं है, तो सत्य के अतिरिक्त और कोई पडाव नहीं है । सत्य और सत्य और सत्य । लेकिन सत्य बंदीगृहों का आवासी नहीं बनता है . . . इसलिये कहता हूं कि मुक्त बनें, क्योंकि परम मुक्तिदायी सत्य केवल उन द्वारों पर ही आता है जो कि स्वयं भी अपने मुक्त होने की घोषणा कर देते हैं । सत्य एक ऐसा आभूषण नहीं है कि कारागृह की जंजीरों के साथ उसे भी पहना जा सके । और वस्तुतः तो सभी आभूषण अंततः सोने की जंजीरों के अतिरिक्त और क्या सिद्ध होते हैं ? सत्य आभूषण नहीं, सत्य तो स्वतंत्रता है । इसलिये ही तो जंजीरों के साथ उसके सह-अस्तित्व

की कोई संभावना नहीं है । सत्य को अहंकार का आभूषण न बनायें. . . वह तो आत्मा की स्वतंत्रता है । और अहंकार के सभी आभूषण आत्मा की परतंत्रता सिद्ध होते हैं । अहंकारी चाहता है सत्य मेरे पक्ष में हो. . . सत्य मेरा गवाह हो. . मैं जैसा चाहता हूं, सत्य वैसा हो । संप्रदायों की, पक्षों की यही तो मांग है । लेकिन निष्पक्ष चित्त स्वयं ही सत्य का गवाह बनना चाहता है, वह सत्य को स्वयं की गवाही में खडे होने की मांग नहीं करता है । ऐसी मूढता और धृष्टता की कल्पना भी उसके लिये संभव नहीं है । अहंकारी, पक्षपाती, सत्य को स्वयं के अनुकुल ढालता है और सत्य का प्रेमी सत्य के अनुकूल स्वयं को रुपांतरित करते है । ऐसे सत्य का प्रेमी एक क्रांति से गुजर जाता है और नया हो जाता है और अंततः स्वयं सत्य हो जाता है । सत्य के प्रेम की भूमिका के इस दूसरे चरण को मैं निष्पक्षता कहता हूं । निष्पक्षता मूलतः स्वयं को सब भांति के शब्दों, सिद्धांतों, शास्त्रों और संप्रदायों से शून्य कर लेने से उपलब्ध होती है। शून्य-चित्तता ही निष्पक्षता है । और शून्य से बडी कोई शक्ति नहीं है । शून्य से ज्यादा विधायक (Positive) कोई ऊर्जा नहीं है । इसलिये तो सभी कुछ शून्य से जन्मता और शून्य में लीन हो जाता है । शून्य है आदि और शून्य है अंत । इसलिये जो शून्य हो जाता है वह प्रथम और अंतिम सत्य के दर्शन पा लेता है । जीवन में जो असत्य है वह है अहंकार और जो सत्य है वह है शून्य । अहंकार है असत्य का प्रगाढतम रुप और शून्य है सत्य की सहजावस्था । निष्पक्षता क्रमशः इसी शून्य की ओर ले जाती है । निष्पक्षता शून्य की ओर गति है । वह स्वयं को शून्य कर लेने की प्रक्रिया है । पक्ष भरते हैं, पंथ भरते हैं, शास्त्र और सिद्धांत भरते हैं. . . निष्पक्षता खाली करती है, निष्पक्षता रिक्त करती है. . . . . निष्पक्षता शून्य करती है । लेकिन मनुष्य किसी भी बात में निष्पक्ष नहीं है । और यही रोग उसे निरंतर विकृति से विकृति में ले जा रहा है । पक्षपात से भरा चित्त ही है सारे युद्धों, सारी कलहों का जनक । हिन्सा मात्र उससे ही पैदा होती है । लेकिन पक्षपात से भरा चित्त अपनी हिन्सा को आत्मरक्षा कहता है और दूसरे की हिन्सा को आक्रमण कहता है । आश्चर्यजनक है कि विश्व के सारे युद्ध ही आत्मरक्षा के लिये लडे गये हैं और कोई भी नहीं पूछता है कि जब सभी आत्मरक्षा करते हैं तो आक्रमण कौन करता है ? प्रत्येक राष्ट्र ही अपने सैन्य विभाग को सुरक्षा विभाग (Defence) ही कहता है ! शायद जो हम करते हैं वह सुरक्षा है और जो दूसरा करता है वह आक्रमण है । एक इसाई पिता अपने बच्चे को कह रहा था : 'दस हिन्दू इसाई हो गये हैं । परमात्मा को धन्यवाद । उन दस लोगों को सुबुद्धि आ गई है । 'उसके बच्चे ने कहा : 'लेकिन, पिताजी. . . एक बार एक

इसाई हिन्दू हो गया था, तब तो आपने यह बात नहीं कही थी। तब तो आपने कुछ और ही कहा था।' उसका पिता लाल आंखें करके बोला : 'चुप, उस गद्दार का नाम भी मेरे सामने मत लेना। 'जो इसाई से हिन्दू हो गया... वह है गद्दार। और जो हिन्दू से इसाई हो गया उसको आ गई है सुबुद्धि और वह हो गया है : परमात्मा का प्यारा। यही है हम सबके पक्षपाती चित्त का ढंग। पक्षपाती चित्त की गाडी ऐसी ही असत्य पटरियों पर दौडती है! ऐसा ही असत्य तर्क यदि हमारी जीवन विधि है तो विक्षिप्तता में और सामान्य चित्त में मात्रा (Degrees) का ही भेद है, गुण का नहीं। वे एक ही चित्त की थोडी कम या थोडी ज्यादा अभिव्यक्तियां हैं। यह विक्षिप्तता ही हमें सोचने नहीं देती है। इसके ही कारण न हम सोच पाते हैं, न देख पाते हैं, न समझ पाते हैं। और तब हम अपने अपने कुओं में ही बंद मर जाते हैं। सुनी है न वह बात कि सागर का एक मेंढक एक छोटे से कुयें में आ गया था। तो उस कुयें के मेंढक ने उससे पूछा : मित्र, तुम कहां से आते हो? उसने कहा : 'मैं समुद्र से आता हूं'। कुये के मेंढक ने पूछा : कितना बडा है तुम्हारा समुद्र.... इतना बड़ा? और उसने एक छोटी सी छलांग लगाई कुये के भीतर। सागर से आनेवाला मेंढक हंसा और बोला : नहीं मित्र, सागर इससे बहुत ज्यादा बडा है। कुये के मेंढक ने और बडी छलांग लगाई और पूछा : 'इतना बडा?' वह सागर का मेंढक फिर भी बोला : नहीं मित्र, सागर बहुत बडा है। लेकिन कुयें का मेंढक बडी से बडी छलांग लगाता गया। आखिर जितना बडा कुआं था उसने उतनी बडी और अंतिम छलांग लगाई और कहा : 'अब तो ठीक है न?' लेकिन वह सागर से आनेवाला मेंढक बोला : 'नहीं मित्र! तुम्हारे पास नापने का कोई उपाय नहीं। सागर तो अमाप है... सागर तो अनन्त है... सागर तो असीम है।' अब तो कुयेवाला मेंढक अविश्वास से हंसने लगा और बोला : 'निहायत पागलपन की बातें करते हो। इससे बडी कोई जगह भी है दुनिया में? इस कुयें से बडी कोई जगह भी है?

जीवन भर जो एक कुये में रहा है उसे यदि ऐसा ख्याल पैदा हो जाये कि इससे बडी कोई जगह नहीं तो हंसने की क्या बात है? जो कुये में ही रहा है उसे पता भी कैसे चलेगा कि इससे बडी कोई जगह भी है?

हम सबने भी तो अपने अपने कुये बना लिये हैं और उनमें रह रहे हैं। और जब भी कोई सागर की खबर लाता है तो हम कहते हैं कि गीता में जो लिखा है वही आप कह रहे हैं न बाईबिल में जो लिखा है वही न? कुरान में जो लिखा है वही न? और यदि वह कहे कि मैं जो खबर लाया हूं वह कहीं भी लिखी हुई नहीं है, तो

हम हंसेंगे और कहेंगे : महानुभाव ! फिर रहने दीजिये । ऐसी कोई बात ही नहीं हो सकती है । हमारे कुये से बडा भी कोई और स्थान हो सकता है ? शब्दों में जो कहा गया है, उससे भी बडा कोई सत्य हो सकता है ? परंपराओं से जो कहा है उससे भी बडी कोई बात हो सकती है ? हम अपने कुओं में बंद हैं । जो अपने कुये में बंद है उसे मैं कह रहा हूं : पक्षपाती, पक्षधर, पक्षांध । सोच विचार के लिये कुये के बाहर आ जाना आवश्यक है । उस मेंढक ने भूल की जो सागर से आया था । मैं उसकी बडी तलाश करता हूं कि वह कहीं मिल जाये तो मैं उससे दो बातें कर लूं । उसने बडी भूल की । कुये बाले मेंढक ने कोई भूल नहीं की । भूल की तो सागर से आनेवाले मेंढक ने की । जब कुये के मेंढक ने छलांग लगाई थी और कहा था इतना बडा? तभी सागर वाले मेढक ने भूल कर दी । उसने यह कहा: 'नहीं, इतना बड़ा नहीं और बडा । इससे कुये के मेंढक में भ्रम पैदा हुआ कि और दूसरी छलांग लगाऊं जरा लंबी । और तीसरी छलांग लगाऊं । और चौथी लगाऊं । अगर मैं उसकी जगह होता तो उस कुये के मेंढक से कहता : मित्र, छलांग मत लगाओ । और लगानी ही है तो कुये के पानी में मत लगाओ. . . कुये के बाहर लगाओ । कुये के बाहर आ जाओ । सागर को अगर जानना ही हो तो कुये में बैठके जानने का कोई उपाय नहीं । चलो । जिस रास्ते से मैं सागर से यहां तक आया हूं वह रास्ता मुझे पताहै । मैं तुम्हें सागर तक ले चलता हूं । अगर वह कुये के मेंढक को सागर तक ले गया होता तो बात जो बात समझानी कठिन थी. . . . संभव नहीं हुई थी, वह उस कुये के मेंढक को खुद ही दिखाई पडती । तो मैं आपसे कहूंगा: कुये के भीतर नापना जोखना बंद करें । थोडा बाहर आयें । हिन्दू के कुये के, मुसलमान के कुये के, जैन के कुये के थोडा बाहर आयें । परमात्मा का सागर बहुत बडा है । धर्म पुरोहितों के कुये बहुत छोटे हैं । किताबों के कुये बहुत छोटे हैं । शब्दों के कुये बहुत छोटे हैं । सत्य का सागर बहुत बडा है । और अगर हम शब्दों में उसे नापने की कोशिश करेंगे, अपने अपने कुये की इकाई में तो चाहे हमारा कुआ कितना भी बडा हो वह सत्य को कभी भी न नाप पायेगा । निष्पक्ष मन. . . कुये के बाहर आ गया मन है । इसलिये, दूसरा सूत्र है : पक्ष को विसर्जित कर दें, पक्ष को जाने दें । पक्ष के कुये को छोड दें ताकि वह आ सके जो कि केवल निष्पक्ष चित्त में ही आता है ।

पहला सूत्र है : विचार ।

दूसरा सूत्र है : निष्पक्षता ।

तीसरा सूत्र है : जागरुकता ।

और ये तीनों सूत्र भिन्न भिन्न नहीं हैं . . . . . एक ही सूत्र के तीन रुप हैं ।

क्योंकि एक के बिना दूसरा भी नहीं हो सकता है । प्रत्येक में शेष दो भी अनिवार्यतः उपस्थित हैं । विचार में निष्पक्षता है और जागरुकता । निष्पक्षता में विचार और जागरुकता । और जागरुकता में निष्पक्षता और विचार ।

जीवन के प्रति हम सोये सोये जीते हैं । आंखें बंद किये से, सोये सोये से, नींद में ही जीते हैं । जागकर नहीं । सैकड़ों सचाईयां हमारे पास से गुजर जाती हैं, उन्हें हम देख भी नहीं पाते हैं ।

बुद्ध का जन्म हुआ । तो उनके पिता ने ज्योतिषियों को बुलाया । और उनसे पूछा : यह बच्चा क्या बनेगा ? उन ज्योतिषियों ने कहा : या तो यह चक्रवर्ती सम्राट होगा या पूर्ण संन्यासी । मां. . बाप इससे बहुत भयभीत हुये. . . चक्रवर्ती होने की संभावना से नहीं, संन्यासी होने की संभावना से । होना तो था भयभीत चक्रवर्ती होने की संभावना से क्योंकि वह एक बडे से बडे डाकू होने की संभावना है लेकिन नहीं वे सब भयभीत हो उठे कि कहीं उनका बेटा संन्यासी न हो जाये ! यह बडे ही मजे की बात है ! मां बाप बच्चा चोर हो जाये, हत्यारा हो जाये या और कुछ भी हो जाये तो उससे उतना नहीं डरते जितना कि उसके संन्यासी होने से डरते हैं ! क्योंकि चोर, डाकू या हत्यारा फिर भी संसार का ही एक हिस्सा होता है । लेकिन संन्यासी की राह संसार से दूसरी ही राह है । चोर और बेईमान के रास्ते भी मां-बाप के परिचित रास्ते होते हैं लेकिन संन्यासी का रास्ता बडा अज्ञात (unknown) है, बडा अपरिचित है । वह बडे अनजान रास्ते पर जाना है । यह कोई बाप नहीं चाहता, कोई मां नहीं चाहती । यद्यपि बुद्ध के मां-बाप गांव में आये संन्यासियों के जरुर ही पैर छूते रहे होंगे । दूसरों के लडके संन्यासी हो जायें इससे किसी को क्या लेना देना है । लेकिन खुद का ही लडका संन्यासी हो जायेगा इस विचार से ही वे इतने घबडा आये कि नगर के सब विद्वानों को बुलाके पूछा कि इसे संन्यासी होने से कैसे बचाया जा सकता है ? उन सबने कहा : एक ही तरकीब है, इसे संन्यासी होने से बचाने की. . . जिन्दगी इसे दिखाई न पडे । यह बेहोश रहे । इसे पता ही न चले जिन्दगी का. . . तो यह संन्यासी नहीं होगा । क्योंकि जिस आदमी को जिन्दगी दिखाई पडती है, उसकी जिन्दगी में बदल हो जाती है, क्रांति हो जाती है । तो बुद्ध को उन्होंने इस भांति पाला जिससे कि उसे कुछ भी दिखाई न पडे । कहते हैं बुद्ध की बगिया के फूल कुम्हलाने से पहले ही रातों रात अलग कर दिये जाते थे कि कहीं कुम्हलाया हुआ फूल देखके बुद्ध को यह ख्याल न आ जाये कि जिन्दगी भी एक दिन कुम्हला जायेगी । बूढे लोगों को बुद्ध के आसपास जाने की आज्ञा न थी । सुन्दर युवा युवतियां ही उनके पास आते जाते थे । ताकि बुद्ध को यह ख्याल न आ जाये कि जिन्दगी एक दिन बुढापे में से भी गुजरती है । बुद्ध युवक

हो गये तब तक उन्होंने मृत्यु की खबर न सुनी थी । कहीं मृत्यु की खबर का आघात उनके जीवन में कोई क्रांति न ला दे । फिर बुद्ध युवा हो गये लेकिन जिन्दगी से कब तक किसी को छिपाया जा सकता है ? जिन्दगी चारों तरफ से हमले किये जाती है रोज । और फिर अंततः छिपाने की तरकीब ही खतरा बन गई थी ।

बुद्ध युवा हुये । युवक महोत्सव था । बुद्ध उसमें भाग लेने गये । वे अपने रथ पर थे और तभी उन्होंने पहली बार एक बूढे आदमी को देखा । यदि उन्होंने बचपन से ही बूढे आदमियों को देखा होता तो शायद यह चोट इतनी गहरी न होती । बूढे आदमी देखने की आदत हो गई होती । लेकिन बचपन से उन्होंने बूढा आदमी ही नहीं देखा था । हम भी रोज बूढे आदमियों को देखते हैं । बुद्ध ने भी देखा, लेकिन बुद्ध को वह घटना बहुत-बहुत प्रगाढ होकर दिखाई पडी । अजनबी थे वे बिल्कुल । उन्होंने बूढा आदमी ही नहीं देखा था । उन्होंने सारथी को पूछा : 'इस आदमी को क्या हो गया है ? ऐसा आदमी तो मैंने कभी देखा ही नहीं ?' सारथी ने कहा : 'यह वृद्ध हो गया है, बूढा हो गया है ।' अगर आप होते बुद्ध की जगह तो आप कहते, अरे बेचारा, कितनी बुरी बात हो गई. . . . बूढा हो गया । चलो किसी धर्मार्थ अस्पताल में भरती करवा दें । इसका इलाज करवा दें । या सरकार को कहें कि किसी को "बूढा न होने दें, ऐसी कोई योजना करें । आपने कोई ऐसी बात सोची होती लेकिन बुद्ध ने यह नहीं सोचा । बुद्ध ने यह भी नहीं पूछा : यह बूढा कहां रहता है ? क्या है. . . क्या नहीं ? सारथी ने जैसे ही कहा यह आदमी बूढा हो गया है तो बुद्ध ने दूसरी कौनसी बात पूछी ? कोई भी विचारशील, बात वही पूछेगा । बुद्ध ने पूछा: 'क्या सभी मनुष्य बूढे हो जाते हैं ?' सारथी ने कहा : 'निश्चित ही सभी मनुष्य बूढे हो जाते हैं ।' तो बुद्ध ने तीसरी बात कौनसी पूछी ? बुद्ध ने पूछा:' 'क्या मैं भी बूढा हो जाऊंगा ?' आह ! यही वह प्रश्न है जो सोया हुआ व्यक्ति कभी भी नहीं पूछता है । सारथी ने कहा : 'प्रभु आप भी वृद्ध होंगे, होना ही पडेगा । वह जीवन की अपरिहार्यता है और कोई भी अपवाद नहीं है ।' तो पता है बुद्ध ने क्या कहा ? बुद्ध ने कहा : 'सारथी, रथ वापिस लौटा लो। मैं बूढा हो गया ।' बुद्धने क्या कहा ? कहा : 'सारथी. . . रथ वापिस लौटा लो मैं बूढा हो ही गया । अब युवक महोत्सव में जाने से क्या अर्थ ? वहां तो सब युवा लोग इकट्ठे हुये होंगे और मैं तो बूढा हो गया हूं । क्योंकि जो हो ही जाना है, वह हो ही रहा होगा । मैं बूढा हो ही रहा हूंगा. . . तभी तो बूढा हो जाऊंगा । कोई अचानक थोड़े ही बुढापा आ जायेगा .... रोज रोज आ रहा होगा । तो मैं बूढा हो ही रहा हूं । थोडे पल की बात है । थोडे क्षण की, थोडे दिन में दुनिया देख लेगी कि मैं बूढा हो गया लेकिन बूढे होने की प्रक्रिया तो मेरे भीतर चलती ही होगी. . . . मैं बूढा हो

ही रहा हूं और हो ही गया हू . . . . . मुझे वापिस लौटा लो । युवक महोत्सव में जाना अब उचित नहीं है '

इस बूढे को बुद्ध ने जिस भांति देखा . . . . यह आंखें खोलके देखना है । जागरुक होके देखना है । जिन्दगी को जो भी जागके देखेगा उसकी जिंदगी एक सतत् क्रांति बन जाती है । उसे प्रतिपल नये-नये सत्यों का बोध होता है और वे सत्य उसे अपरिहार्यरुप से बदलते हैं । उसे स्वयं को बदलना नहीं पडता है. . . बोध के साथ बदलाहट सहज ही आती है । वह तो जागृत बोध का सहज परिणाम ही है । लेकिन हम तो आंख बंद करके चले जाते हैं और देखते ही नहीं हैं कि बाहर क्या है . . . भीतर क्या है ? पत्ते वृक्षों से गिर रहे हैं, जवान आदमी बूढा हो रहा है. . . बूढा आदमी मर रहा है । चारों तरफ मौत. . . . सब तरफ से मौत घेरे चली जाती है और फिर भी हम जीये चले जाते हैं । और जीवन में कोई प्रश्न खडा नहीं होता । मौत जिज्ञासा नहीं बनती. . . . बल्कि अगर कोई आपको पकडके दिखाये कि देखो यह मौत है तो आप कहेंगे ऐसी अपशगुन की बातें न करें । रहने दें । होगी । मुझे क्या लेना देना. . . मैं तो जिन्दा हूं । ऐसे हम आंखें चुराते हैं । और स्मरण रहे कि जो आदमी मौत से आंखें चुराता है वह आदमी जिन्दगी को कभी न देख सकेगा । क्योंकि जिसमें मौत को देखने का साहस नहीं है, वह जिन्दगी को भी नहीं देख सकता है । जिन्दगी और मौत एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । तो जिन्दगी को बहुत जागके देखना जरुरी है. . . उसकी समग्रता में. . . . उसकी कुरुपता, उसका सौन्दर्य, उसके गड्ढे, उसकी बुराईयां, उसका अंधकार,उसका प्रकाश सब देखना जरुरी है । और इसलिये बहुत सतेज. . . खुली हुई आंखें चाहिये । सोयी हुई आंखें नहीं । अलसाई हुई आंखें नहीं । सपने देखती आंखें नहीं । मूर्च्छित और बेहोश आंखें नहीं । जागृत, अमूर्च्छित, स्वप्नशून्य आंखें ही केवल जीवन सत्य का दर्शन कर पाती हैं । जीवन सत्य के दर्शन के लिये मुर्च्छा को मूल्य की भांति देना पडता है । निद्रा का, तन्द्रा का, प्रमाद का त्याग करना पडता है ।

मैंने सुना है एक फकीर के बाबद् । वह राजस्थान के एक गांव में गया था । जैसे मैं यहां बोल रहा हूं, ऐसे ही उस रात वह वहां बोलता था । जैसे आप यहां इकट्ठे हो गये हैं, उस गांव के लोग भी वहां इकट्टे हुये थे । सामने ही एक आदमी आकर बैठा था और सोया हुआ था । सामने जो लोग आके बैठते हैं, अक्सर सो जाते हैं । कुछ कारण होता है । असल में सामने बैठने का जो मोह है वह सोये हुये आदमी का ही लक्षण है ! वह गांव का सबसे बडा धनपति था, जो सामने बैठा था । और भी संन्यासी गांव में आये थे . लेकिन सब संन्यासियों ने

देखा था कि वह आदमी सोता है. . . लेकिन कौन संन्यासी धनपति को कहे कि तुम सोते हो । क्योंकि सारा संन्यास, सारा धर्म, सारे मंदिर उसी धनपति से तो चलते हैं । उसे कौन नाराज करे ? तो धनपति आंख बंद करके बैठा रहता था । वह पूरे समय सोता ही रहता था । रात तो उसे नींद आती ही नहीं थी । किस धनपति को आती है ? और जिन्हें भी अनिद्रा की बीमारी है, वे इसीलिये धर्मस्थानों में धर्मसभाओं में जरुर ही जाते हैं । धर्मकथायें नींद की दवा का काम करती हैं ! ऐसे भी अबुद्धिपूर्ण बातें सुनते-सुनते बुद्धि यदि सो जाती हो तो आश्चर्य नहीं है ! सो वह धनपति भी सोता था । लेकिन वह फकीर यह बर्दाश्त न कर सका । फकीर निद्रा बर्दाश्त करते ही नहीं । वे तो मूर्च्छा के शत्रु होते ही हैं । लेकिन दूसरे संन्यासी उससे यही कहते थे कि आप. . . उसका नाम था आसोजी. . . आसोजी आप बहुत ध्यानमग्न होकर धर्मश्रवण करते हैं । आसोजी आप ही सच्चे श्रावक हैं, सच्चे श्रोता हैं । आसोजी इससे बडे प्रसन्न होते थे । हालाँकि वे सोते थे. . . लेकिन संन्यासी उन्हें यही कहते थे कि आप बडे ध्यानमग्न होकर सुनते हैं, सो वे बडे प्रसन्न होते थे । इस बात को सुनके कोई भी प्रसन्न होता है कि आप बडे ध्यानमग्न हैं और यह सुनके नाराज होता है कि आप सो रहे हैं । हालाकि जितने लोग आपको ध्यानमग्न दिखाई पडते हैं उनमें सौ में से निन्यान्वे सोये हुये रहते हैं । लेकिन यह फकीर बहुत गडबड था । उसने बीच में ही भाषण बंद कर दिया और जोर से कहा : "आसोजी, सोते हैं ?"

आसोजी को तो गुस्सा आ गया । सोये आदमी को गुस्सा आने में देर ही क्या लगती है ? उन्होंने कहा : 'कौन कहता है कि मैं सोता हूं ? स्वामीजी, मैं तो आंख बंद करके, ध्यान मग्न होके आपकी बातें सुन रहा हूं । अब जब कोई व्यक्ति खुद ही अपने को धोखा देना चाहे तो कोई क्या करे ? फिर उस फकीर ने बोलना शुरु कर दिया । थोडी देर बात चली होगी कि आसोजी को फिर नींद लग गई । वह तो उनका बडा पुराना अभ्यास था । फिर उन्हें मंदिर के अतिरिक्त और कहीं नींद आती भी नहीं थी । लेकिन वह फकीर तो अजीब ही था. . . उसने उन्हें फिर टोक दिया । अबकी बार और जोर से कहा : 'आसोजी, सोते हो ? 'आसोजी तो बहुत क्रोध से भर गये, क्योंकि वहां सारा गांव इकट्ठा था और सारा गांव सुन रहा था । और संन्यासी तो कहते थे आप बडे ध्यानमग्न हो के सुन रहे हो तो सारा गांव सुनता था, प्रसन्न होता था कि आसोजी बडे धार्मिक हैं । अब यह सारा गांव सुन रहा है और यह संन्यासी फिर दोबारा बोल रहा है : तो आसोजी ने कहा : सुनते नहीं हो तुम ? मैंने कहा : मैं ध्यानमग्न होके सुन रहा हूं. . . मैं

सोया नहीं हूं। इस बार आसोजी ने उस फकीर को 'आप' और "स्वामी जी' कहने की भी जरुरत नहीं समझी। हमारा सारा आदर और सम्मान ऐसा ही है! वह क्षण में विलीन हो जाता है क्योंकि वस्तुतः वह होता ही नहीं है। वह सब भी हमारा स्वार्थ ही है। फिर उस फकीर ने बोलना शुरु किया। थोडी देर बाद आसोजी फिर सो गये। सोये हुये आदमी की बात का कोई भरोसा थोडे ही है? लेकिन फिर उस संन्यासी ने उन्हें टोका। वह निद्रित लोगों का पीछा छोडनेवाले व्यक्तियों में नहीं था। और न ही उसे आदर की चिन्ता थी, न सम्मान की। जिसे वैसी चिन्ता हो, वह संन्यासी ही नहीं है। लेकिन अबकी बार बडी अजीब बात उसने कही। हर बार वह कहता था। आसोजी सोते हो? इस बार उसने कहा: 'आसोजी जीते हो?' नींद में आसोजी ने समझा कि वही पुराना प्रश्न है। वह बोला। 'नहीं। नहीं। कौन कहता है?' उस फकीर ने कहा: आसोजी, अब तो आप फंस गये... अब तो बचना बहुत मुश्किल है। अब तो आप पकड में आ ही गये हैं। वैसे आपने गलती से एक सच्ची बात ही कह दी है। जो सोता है वह जीता भी नहीं है। जीने के लिये तो जागना अत्यंत जरुरी है। जीवन जागने का ही तीव्रतम रुप है। मृत्यु निद्रा की ही प्रगाढ दशा है।

क्या आपको कभी भी ऐसा अनुभव होता है कि कभी हमारा जागरण थोडा तेज होता है और कभी कम? चेतना बहुत सी सीढियों (Grades) में, बहुत से क्रमों (Degrees) में जागती सोती रहती है। क्या कभी आपको ऐसा नहीं लगता है कि हम जागे हुये हैं? किसी खतरे (Danger) में? किसी निर्जन एकांत में? प्रेम के किसी क्षण में? शांति की किसी दशा में? स्वास्थ की किसी तीव्र स्थिति में? और ऐसे ही निद्रा के, मूर्च्छा के भी अनुभव होते हैं। यह आध्यात्मिक निद्रा ही सत्य से दूर ले जाती है और सत्य और स्वयं के बीच में दीवार बन जाती है। जागरण से.... जागृति (Awareness) से मूर्च्छा के इस तिमिरावरण को छिन्न भिन्न करना है। साधना का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है:

असुरक्षा (Insecurity) की तीव्र भावदशा में या खतरे की स्थिति में जो जागरण स्वयं में उपस्थित होता है.... जो चेतना प्रतीत होती है वही जागरण और चेतना जब सहज और अकारण उपस्थिति बन जाती है तो व्यक्ति एक बिल्कुल ही अज्ञात और अपरिचित लोक में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है। वह लोक ही क्राइस्ट का प्रभु का राज्य (kingdom of God) है।

एक वृद्ध गुरू था। वह जागरुकता की शिक्षा देता था। एक युवक को

वह आंतरिक निद्रा (sleepiness) और जागरुकता (awarenesss) का भेद समझा रहा था। उसने उस युवक को उस देश में होने वाले ऊंचे से ऊंचे वृक्ष पर चढने की आज्ञा दी। वह युवक तो वृक्षों पर चढना नहीं जानता था। वृद्ध वृक्ष के नीचे बैठ गया और वह युवक अत्यंत होश से वृक्ष के ऊपर चढने लगा। अंततः वह आकाश छूते वृक्ष की अंतिम ऊंचाई पर भी पहुंच गया और फिर उसने नीचे उतरना शुरु किया। लेकिन वह बूढा वृक्ष के नीचे चुप बैठा था सो चुप ही बैठा रहा। लेकिन जब वह युवक जमीन से कोई १५ फीट की दूरी पर ही रह गया था तब वह बूढा अचानक उठा और बोला : बेटे, संभल के उतरना, संभल के। वह युवक तो बहुत हैरान हुआ। जब वह दरख्त की ऊपर की चोटीपर था तब तो इस पागल ने नहीं कहा कि संभल के चलना, संभल के। और अब जबकि वह वापिस ही लौट आया था और जमीन पास ही आ गई और खतरा गुजर चुका था, तब वह चिल्लाके कह रहा है संभलके उतरना संभल के। वह नीचे उतर आया और उसने कहा : 'मैं हैरान हूं... आप बडे अजीब व्यक्ति मालूम पडते हैं। जब मैं खतरे में था, तब तो आपने जरा भी सावधान नहीं किया। तब तो आप चुपचाप आंखें बंद किये दरख्त के नीचे बैठे रहे। और जब मैं खतरे के बाहर हो गया तब आपको मुझे सावधान करने का ख्याल आया? यह क्या पहेली है? मैं तो कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूं।' वह बूढा यह सुन खूब हंसने लगा और बोला : बेटे, जब कोई खतरे में होता है, तब वह स्वयं ही सावधान और जागरुक होता है.... तब तो वह खुद ही जागा हुआ होता है। उस वक्त उसे चेताने की कोई जरुरत नहीं है। असली खतरा तो वहीं से शुरु होता है जहां आदमी खतरे से बाहर होता है। क्योंकि वहीं से उसके भीतर निद्रा और असावधानी प्रविष्ट हो जाती है। वहीं से वह होश (mindfulness) खो देता है। इसलिये जैसे ही मुझे लगा कि तुम जमीन को करीब समझ रहे हो और तुम्हारा चित्त निद्रा में प्रवेश कर रहा है, वैसे ही मैं तुम्हें जगाने को चिल्लाया था। मैं बूढा हो गया हूं लेकिन मैंने खतरे की चोटियों से कभी किसी को गिरते नहीं देखा है.... गिरते तो मैंने लोगों को वहीं देखा है जहां कि कोई खतरा ही नहीं था। और तुम इसे पहेली कहते हो?... नहीं, बेटे, नहीं, यही जिन्दगी है।"

जिन्दगी के कुछ क्षणों में, बहुत खतरे के क्षणों में ही हम साधारणतः जागे हुये होते हैं। बाकी साधारणतः तो हम सोये हुये ही होते हैं। और साधक वही है जो कि सदा जागकर जीता है। हम तो जागे हुये भी सोते हैं और साधक

सोया हुआ भी जागता है। लेकिन यह जागकर जीना कैसे हो ? कैसे ? कैसे हम जागकर जियें ? इस जागरण के बिना तो सत्य नहीं मिल सकता है। सोयी हुई चेतना को अनुभव ही क्या हो सकता है ? उसे दर्शन ही क्या हो सकता है ? जागे हुये व्यक्ति को ही मैं धार्मिक व्यक्ति कहता हूं और धार्मिक व्यक्ति वही है जो खतरों में जीता है। जो असुरक्षाओं में जीता है, जो क्षण क्षण जीता है, जो आज जीता है, जो अभी और यहां (Here and Now) जीता है, क्योंकि ऐसा जीना अनिवार्यतः जागकर जीना बन जाता है। एक संन्यासी मरण शय्या पर था। किसी ने उससे पूछा : जीवन की खोज का मार्ग क्या है ? वह बोला : खतरे में जिओ (Live in Danger), असुरक्षा में जिओ (Live in Insecurity) और वह मुस्कराता रहा और उसकी मृत्यु आ गई। उसने मृत्यु को भी जिया क्योंकि वह तो असुरक्षा को ही जीवन जानता था और मृत्यु से बड़ी और असुरक्षा ही क्या है ? ऐसे वह मृत्यु को भी जी सका और हम जीवन को भी नहीं जी पाते हैं। उसने मृत्यु को भी जीवन बना लिया और हम जीवन को भी मृत्यु बना लेते हैं। असुरक्षा में जो जीता है, उसके लिये वस्तुतः कोई मृत्यु नहीं है और जो सुरक्षा में जीना चाहता है, वह अपने ही हाथों अपनी ही मृत्यु बन जाता है। और ऐसा क्यों होता है ? ऐसा इसलिये होता है क्योंकि जो खतरे में ही जीवन देखता है उसके लिये कोई खतरा, खतरा नहीं रह जाता है और जो असुरक्षा के मार्ग पर ही चलता है उसके लिये कोई असुरक्षा नहीं रह जाती है। खतरे में जीनेवाले के लिये कोई भय (Fear) नहीं है। वह तो अभय (Fearless) है। भय है खतरे से बचनेवाले के लिये। और जहां भय है वहां जीवन कहां ? वहां है मृत्यु और मृत्यु की छाया। फिर असुरक्षा ही जिसका पथ है, वह तो सदा सुरक्षित ही है क्योंकि उसे सुरक्षा के खो जाने या टूट जाने की कोई आशंका ही नहीं है। यह निशंक जी पाता है। वस्तुतः तो वही जीता है क्योंकि आशंका में जीना तो सदा मृत्यु में ही होना है ! लेकिन हम सबतो खतरे से बचके जीते हैं। सब तरफ से सुरक्षा कर लेते हैं। सब तरफ से बैंक बैलेंस कर लेते हैं। सब तरफ से व्यवस्था कर लेते हैं। सब तरफ से मजबूत दीवारें बना लेते हैं। सब इन्तजाम कर लेते हैं। कहीं से कोई खतरा नहीं रहने देते हैं। तो फिर हम सो जाते हैं। फिर हम सोये सोये जीने लगते हैं।

संन्यासी वह है, धार्मिक वह है, जो खतरे में जीता है। आह ! इसीलिये तो उसे अगृही कहा है..... अनागरिक कहा है.. अपरिगृही कहा है।

एक राजा ने एक महल बनवाया था। और उसमें एक ही दरवाजा रखा

था, जिससे कि कोई असुरक्षा न रहे, कोई खतरा न रहे, कोई भय न रहे। पूरे भवन में बस एक ही दरवाजा। विशाल भवन और एक ही दरवाजा. . . ऐसे उसने अपनी सारी सुरक्षा कर ली थी। उस भवन में न खिडकियां थीं न आकाश को झांकने के लिये झरोखे थे। वहां न सूरज आ सकता था, न आकाश, न पवन। पडौस का दूसरा राजा उसके इस अद्‌भुत निवास की खबर सुनके देखने आया। राजा ने अपना महल उसे दिखलाया। पडौस का राजा भी बहुत प्रभावित हुआ। उसने भी सोचा कि उसे भी ऐसा ही महल बनाना चाहिये। और उसने कहा : 'बडा सुरक्षित महल आपने बनवाया है, इसमें खतरे की गुंजाईश नहीं। चोर नहीं आ सकता, शत्रु नहीं आ सकता। और दूसरे लोग भी साथ में महल देखने को इकठ्ठे हो गये थे। एक बूढा आदमी भी सामने ही खडा था। जब पडौसी राजा प्रशंसा कर रहा था उस महल की तब वह बूढा आदमी जो कि अत्यंत दीन और दरिद्र था, जो कि एक भिखारी मालुम होता था, वह हंसने लगा। उस भवन के मालिक ने पूछा : 'क्यों हंसते हो ? कोई भूल रह गई है ?' वह बूढा बोला : 'हां, सिर्फ एक भूल रह गई है। एक दरवाजा भी रखा यही बस एक गलती है। और सब तो ठीक है। इसे भी बंद कर दो। क्योंकि इस दरवाजे से आपकी मौत भीतर घुस सकती है ? इसको भी बंद कर दो। और आप भीतर हो जाओ। फिर आप बिल्कुल सुरक्षित हो जावेंगे। फिर आप मर भी नहीं सकते हैं। क्योंकि मौत को जाने आने का भी फिर रास्ता नहीं रह जाता है।' राजा को उसकी बात खूब जंची। आपको भी जंचेगी। बात ठीक थी भी। जीवन में एक द्वार का होना भी तो असुरक्षा ही है। वह द्वार भी बंद हो तो सुरक्षा पूरी हो जाती है। लेकिन, तब जीवन भी नहीं रह जायेगा। क्योंकि जीवन के आने जाने का द्वार और मार्ग भी वही है जो कि मृत्यु के आने जाने का द्वार और मार्ग है। जीवन और मृत्यु दो नहीं हैं। वे तो रात्रि और दिवस की भांति संयुक्त हैं . . . वे बाहर जाती और भीतर आती स्वांसों की भांति एक हैं। और जो इस सत्य को जान लेता है, वह उसे उपलब्ध हो जाता है जो कि अमृत है। जीवन और मृत्यु उस अमृत के ही दो पहलू हैं। वे उसकी ही दो अवस्थायें हैं। वे उसकी ही दो अभिव्यक्तियां हैं। वह एक ही उन दो से प्रगट होता और अप्रगट होता है।

जीवन ही एक खतरा है। मृत्यु नहीं, जीवन ही खतरा है। मृत्यु तो विश्राम है लेकिन जीवन निरंतर अज्ञात से अज्ञात में गति है। जीवन तो बिल्कुल वैसे ही है जैसे पत्ते पर ओस की एक बूंद हवा में कंपती है। किसी भी क्षण गिर सकती है। जीवन तो वैसे ही है जैसेकि ओस की एक बूंद घास के तिनके पर पडी

हो और किसी भी क्षण सूरज निकलेगा और वह बाष्पीभूत हो अज्ञात में उड जावेगी। जिन्दगी तो एक कंपन है। और उसे जो ठोस बना लेते हैं, सब तरफ से सुरक्षित कर लेते हैं, वे अपनी ही कब्र बना लेते हैं। अपने ही हाथों अपनी ही। और फिर उस कब्र में ही सो जाते हैं। और इसे ही जीवन समझते रहते हैं। जीवन ठोस ठहराव नहीं है. . . . जीवन तो तरल प्रवाह है। और जो उसे ठोस बना लेते हैं, वे आत्महन्ता हैं। शरीर का अंत कर देने वाले लोग तो सिर्फ शरीर हन्ता हैं लेकिन वास्तविक आत्महत्या (Suicide) कर लेने वाले लोग तो वे ही हैं जो कि जीवन को सुरक्षा के ठोस सांचों में ढालने में संलग्न होते हैं।

धार्मिक व्यक्ति, धार्मिक चित्त (Religious-Mind) तो वह है जो जीवन को उसकी असुरक्षा में, उसके पूरे खतरों में स्वीकारता और जीता है। और जो भी जीवन के प्रति सजग होगा वह जानेगा ही कि जीवन तो एक खतरा ही है। जीवन खतरे में है, ऐसा नहीं, बल्कि जीवन ही खतरा है। जीना ही एक खतरा है। मरना एक सुरक्षा है। और शायद इसीलिये सुरक्षा के लोलुप मोक्ष की तलाश करते हैं क्योंकि मोक्ष उन्हें पूर्ण सुरक्षित ज्ञात होता है क्योंकि वह पूर्ण मृत्यु है। वे खतरों के कारण जीवन से ही छुटकारा पाने को आतुर हो जाते हैं। सुरक्षा के लिये वे जीवन से ही छूट जाना चाहते हैं. . . वे जीवन से ही पलायन कर जाना चाहते हैं। लेकिन बेचारे !. . शायद उन्हें ज्ञात ही नहीं है कि मुक्ति जीवन से पलायन में नहीं, जीवन को उसकी पूर्णता और समग्रता से जी लेने का ही नाम है। और मोक्ष मृत्यु नहीं, पूर्णतम जीवन है।

जिन्दगी तो असुरक्षा है. . . . सब रुपों में। जिसे मैंने आज प्रेम किया है, कोई भरोसा है कि कल वह मुझे प्रेम देगा ? जिसे मैंने आज मित्र कहा है, कोई भरोसा है कि कल सुबह भी वह मेरा मित्र रहेगा ? जिसे मैंने अपना जाना है, भरोसा है कि वह कल दुनिया से विदा नहीं लेगा ? सब असुरक्षित है। जिन्दगी में कुछ भी सुरक्षित नहीं है। जिन्दगी जितनी तीव्र होगी उतनाही सब कुछ असुरक्षित मालूम होगा। इस असुरक्षा में ही जो जीता है. . . और सुरक्षा के झूठे इंतजाम नहीं करता, वही धार्मिक व्यक्ति है और स्मरण रहे कि सुरक्षा के सब इंतजाम झूठे हैं। क्योंकि आज तक कोई कहीं सुरक्षित हो पाया है ?

ईश्वर में, मोक्ष में, पुण्य में, संन्यास में कहीं भी सुरक्षा न खोजें. . . ऐसी कोई सुरक्षा है ही नहीं। कोई आत्यंतिक सुरक्षा नहीं है। असुरक्षा ही नियम है। और वही जीवन है। सुरक्षा के सांसारिक इंतजाम ही झूठे नहीं सिद्ध होते

हैं, आध्यात्मिक इंतजाम और भी झूठे सिद्ध होते हैं। सांसारिक इंतजाम तो सुरक्षा का थोडा बहुत भ्रम दे भी सकते हैं, क्योंकि वे जीवन के शाश्वत नियम नहीं, केवल समाज निर्मित सुविधायें हैं. . . मनुष्य सृष्ट नियम हैं। लेकिन जीवन की आत्यंतिकता में सुरक्षा असंभव ही है। वह तो जडता का ही दूसरा नाम है। सुरक्षा के सब आयोजनों के झूठेपन को देखें. . . . उनकी असत्यता और भ्रामकता देखें और फिर जियें. . सुरक्षा के भाव से मुक्त और असुरक्षा में ही। और ऐसे जीने के साथ ही जागरण जन्मता है। चेतना का वह आयाम (Dimension) ही हमें अज्ञात है। वह बोध. . . वह होश ही हमें अपरिचित है और फिर उसके प्रकाश में जीना, वह आनन्द ही हमें ज्ञात नहीं है। नहीं हमें वह कुछ भी ज्ञात नहीं है। और बिना स्वयं उस भांति जिये उसे जानने का और कोई भी मार्ग नहीं है। निद्रा का जीवन सदा बाहर की उत्तेजनाओं पर पलता है। ऐसे जीवन में आंतरिक कुछ भी नहीं है। क्योंकि भीतर से कुछ आता ही नहीं है. . . जो भी आता है, वह बाहर से, बाहर के कारण और बाहर के दबावसे आता है। स्वयं और सहज तो निद्रा में कोई झरना फूटता ही नहीं है. . . . कोई दिया जलता ही नहीं है. . . कोई फूल खिलता ही नहीं है। यदि एक युवक किसी युवती को प्रेम करे. . तो जिसे वह प्रेम करता है 'उसके प्रति जागा हुआ रहता है। लेकिन कल वह उससे शादी कर लेता है और वह उसकी पत्नी बन जाती है. . . फिर वह उसके प्रति बिल्कुल सो जाता है। फिर उसे देखता भी नहीं। याद करें ? आपने अपनी पत्नी को कभी देखा है ? आंख भरके ? नहीं। फिर तो नींद हो जाती है। फिर तो सब ठीक है क्योंकि सुरक्षित हो गई सब बात। जब तक वह प्रेयसी थी, तबतक असुरक्षा थी इसलिये बाह्य प्रेरित थोडी सी जागरुकता थी। वह मिल भी सकती थी और खो भी सकती थी, इसलिये थोडा खतरा था। इसके कारण ही थोडा सा होश था। और जैसे ही वह मिल गई वैसे ही वह होश चला गया। प्रेयसी असुरक्षा थी. . . . पत्नी तो सुरक्षा है। उसके प्रति जागने की कोई जरुरत ही क्या है ? और उस होश के कारण ही थोडा सा आनन्द भी था। इसलिये प्रेयसी तो आनन्द थी, लेकिन पत्नी सिर्फ एक बोझ है।

कवि बायरन ने शादी की थी। और वह अपनी नवविवाहित पत्नी का हाथ पकडके चर्चके बाहर निकल रहा था। अभी ही उनकी शादी हुई थी। विवाहोत्सव के लिये जलाई गईं चर्च की मोमबत्तियां अभी जल रही थीं और घंटियां बज रही थीं। अभी मेहमान निकल ही रहे थे द्वार से। और वह अपनी पत्नी का हाथ पकडकर द्वार से बाहर निकल रहा था। और फिर जैसे वह अपने पर ही हंसने

लगा और अपनी पत्नी से बोला कि एक बडी अनहोनी बात का मुझे अनुभव हुआ है। एक क्षण पहले तक, जब तू मेरी नहीं थी, मैं तेरे प्रति बहुत जागा हुआ था। और अभी जैसे ही मैं चर्च की सीढियां उतर रहा था और तेरा हाथ मेरे हाथ में था, लेकिन एक क्षण को मुझे ख्याल हीं नहीं रहा कि तू साथ में भी है। मुझे एक दूसरी स्त्री ही दिखाई पड गई जो रास्ते पर जा रही थी। और मेरा मन उसके प्रति आकर्षण से भर गया था। मैं उसके प्रति तो जागा हुआ था, लेकिन तेरे प्रति सो गया था। ऐसा ही होता है। हम सबके जीवन में भी ऐसा ही होता है। जो अनुपलब्ध है उसका बोध होता है, लेकिन उसके उपलब्ध होते ही वह भूल जाता है। अभाव का स्मरण होता है। प्राप्ति विस्मरण बन जाती है। अभाव असुरक्षा है. . . . अभाव चुनौती (Challenge) है, फलतः उसका बोध है। अनुपलब्धि पीडा है. . . . अनुपलब्धि वेदना है, फलतः उसकी स्मृति है। शायद इसलिये वेदना के दोनों ही अर्थ हैं . . . वेदना का अर्थ पीडा भी है, वेदना का अर्थ ज्ञान भी है ! असुरक्षा जगाये रखती है। सुरक्षा सुला देती है। सुरक्षा अफीम है। धर्म भी सुरक्षा लाये तो अफीम है। क्योंकि जागरण है असुरक्षा में। और सुरक्षा के अतिमोह में हमने जीवन को चहुं ओर से जड कर लिया है। और इस जडता के बीच हम निश्चिन्तता से सो गये हैं, और करीब मर गये हैं। शायद, मृत्यु की कामना (Death Instinct) हमारे भीतर प्रबल है और वही हमारी सुरक्षा की दौड बन जाती है। सुरक्षा की कामना जीवन के आनन्द और मोह से पैदा नहीं होती है। जीवन का आनन्द और मोह. . . जीवन की अभीप्सा तो व्यक्ति को निरंतर खतरों की खोज में ले जाती है। क्योंकि जीवन का फूल खतरों की घाटियों में ही पूर्णतया और सुवासित होता है। सुरक्षा के बंद घरों में तो केवल कागज के फूल. . . . मरे हुये फूल ही जी सकते हैं ! जीवन के फूलों के लिये तो जलती धूप चाहिये, जडों को हिलाती अनंत और असीम वर्षा चाहिये, अनंत और असीम खुला आकाश चाहिये, प्राणों को झकझोरती हवायें चाहिये. .. तभी और केवल तभी जो बीजों में छिपा है वह फूलों में प्रगट हो पाता है। इसलिये मैं सुरक्षा की खोज में जीवेषणा नहीं, मरणाकांक्षा ही देखता हूं। जो देश, जो जातियां सुरक्षा की मोही हो जाती हैं, वे बहुत शीघ्र ही स्मशान पहुंच जाती हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। सुरक्षा के मोह का वही फल हो सकता है, क्योंकि सुरक्षा के मोह का आदिबीज भी वही है। जीवन के लिये. . . . जीवन्तता के लिये सुरक्षा नहीं चाहिये, असुरक्षा का आनन्द चाहिये, खतरे में जीने का संगीत चाहिये, अलंघ्य सागरों का बुलावा

चाहिये, अविजेय पर्वत शिखरों की पुकार चाहिये, अज्ञात और अज्ञेय का आमंत्रण। और इस असुरक्षा की कल्पना नहीं करनी है, क्योंकि जीवन असुरक्षा ही है। कल्पना तो सुरक्षा है.... असत्य तो सुरक्षा है। असुरक्षा तो वास्तविकता है। असुरक्षा तो सत्य है। सुरक्षा के असत्य को देखें और असुरक्षा की पुलक जीवन को अपने आप ही संजीवन रसों से नहला जाती है। ऐसा मैंने जाना और जिया है, इसलिये कहता हूं। आप भी खोजें... अपनी सुरक्षा के कागजी महलों में तलाशें... क्या सुरक्षा कहीं भी है? या तो असुरक्षा से पलायन के लिये हमने सुरक्षा के सपने ईजाद कर लिये हैं? खोजें और खोजें... निर्ममता से खोजें। और फिर पायेंगे कि खोजते ही सुरक्षा खो जाती है। शायद इसी डर से हम खोजते ही नहीं हैं! क्योंकि खोजते ही दिखाई पडता है कि कुछ भी सुरक्षित नहीं है और जीवन एक सतत् खतरा है। किन्तु जो इस खतरे को अनुभव करता है, वह जागना शुरू हो जाता है। और आश्चर्यों का आश्चर्य यह है कि जो जागृत है, उसके लिये न कोई खतरा है, न कोई असुख है। क्योंकि वह उसे उपलब्ध हो जाता है जो कि सत्य है, जो कि अमृत है, जो कि प्रभु है।

सत्य की खोज के लिये ये तीन सूत्र मैंने आपसे कहे कि : विचार का जन्म होना चाहिये।

कि निष्पक्षता में प्रतिष्ठा होनी चाहिये।

कि जागरुक चेतना होनी चाहिये।

ये तीन सूत्र जिसके जीवन में फलित होते हैं, उसके जीवन में सत्य के आगमन का मार्ग बन जाता है। एक छोटी सी कहानी और फिर मैं आपको विदा दूंगा।

एक फकीर अपने देश वापिस लौटा था। वह सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर आया था... उस देश के राजा का वह बचपन का मित्र था। राजा ने उसे आमंत्रित किया और उसका स्वागत किया। और स्वागत के बाद उससे कहा : 'मेरे मित्र तुम सारी जमीन घूमकर आये हो, कुछ मेरे लिये भेंट भी लाये हो या नहीं? मैं बहुत दिन से प्रतीक्षा कर रहा हूंकि तुम लौटोगे तो मेरे लिये जरुर ही कुछ अमूल्य लाओगे।' उस फकीर ने कहा : 'मैं जमीन के कौने कौने को छान आया हूं और मैंने अनूठी से अनूठी चीजें देखीं और मेरा दिल हमेशा हुआ कि तुम्हारे लिये कुछ भेंट ले चलूं क्योंकि लौटते ही तुम जरुर पूछोगे कि मैं तुम्हारे लिये क्या लाया हूं? लेकिन जो चीज भी मैंने लेनी चाही उसे लाने में यही ख्याल सदा बाधा बन गया कि तुम तो इतने बडे सम्राट हो और ऐसा कैसे हो सकता है कि

यह चीज अब तक तुम्हारे पास न पहुंच गई हो ? और मैं तो ऐसी ही भेंट लाना चाहता हूं जो तुम्हारे पास न हो । और अंततः वैसी चीज मुझे मिल गई और मैं उसे ले आया हूं । यह सुनते ही राजा तो बहुत आतुर उत्सुकता से भर गया और पूछने लगा : 'वह कहां है ?' फकीर के पास तो एक फटी सी झोली के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं पडता था ! फकीर ने झोली राजा के हाथ में दे दी । उसने उसमें हाथ डाला तो और भी चकित हो गया ! उसमें तो एक बहुत सस्ती सी चीज निकली । क्या यही अनूठी चीज उसका मित्र उसे भेंट करने लाया है ? उस झोली में से जो निकला वह एक तीन पैसे का दर्पण था !

वह फकीर राजा को हैरान देख खूब हंसने लगा था और बोला था : मैंने सोचा तुम्हारे पास और तो सब कुछ होगा लेकिन ऐसी चीज न होगी जिसमें तुम स्वयं को देख सको । इसलिये मैं यह दर्पण ले आया हूं ।

मैं नहीं जानता कि वह दर्पण कैसा था और वह राजा उस दर्पण में स्वयं को देख सका या नहीं । लेकिन मैं भी तीन पैसों का तो नहीं, तीन सूत्रों का यह दर्पण आपके लिये लाया हूं, लेकिन यह दर्पण ऐसा नहीं है कि मैं आपको दे दूं, हां आप उसे स्वयं ही लेना चाहें तो जरुर ले सकते हैं । और जिसको यह दर्पण उपलब्ध हो जाता है, वह निश्चय ही स्वयं को और स्वयं के द्वार से सर्व को जानने में समर्थ हो जाता है ।

सत्य की पहली किरण

(एक प्रवचन)

संकलन : श्रीमती भारती नागड़ा

एक छोटी सी घटना से मैं अपनी चर्चा शुरु करना चाहूंगा। जैसे आप आज यहां इकट्ठे हुये हैं, ऐसे ही एक चर्च में एक रात बहुत से लोग इकट्ठे हुये थे। एक साधु उस रात सत्य के ऊपर उन लोगों से बात करने को था। सत्य के संबंध में एक अजनबी साधु उस रात उन लोगों से बोलने को था। साधु आया, उसकी प्रतीक्षा में बहुत देर से लोग बैठे थे। लेकिन इसके पहले कि वह बोले उसने एक प्रश्न, एक छोटा सा प्रश्न वहां बैठे हुये लोगों से पूछा। उसने पूछा कि क्या आप लोगों में से किसी ने भी ल्यूक का उनहत्तरवां अध्याय पढा है ? जिन लोगों ने पढा है, वे हाथ ऊपर उठा दें। उस हाल में जितने लोग थे, सभी ने हाथ ऊपर उठा दिये, केवल एक बूढे आदमी को छोडकर। उन सभी लोगों ने स्वीकृति दी कि उन्होंने ल्यूक का उनहत्तरवां अध्याय पढा है। वो साधु जोर से हंसने लगा। और उसने कहा तुम्हीं वे लोग हो, जिनसे सत्य पर बोलना बडा जरुरी है। क्योंकि ल्यूक का उनहत्तरवां अध्याय जैसा कोई अध्याय ही नहीं है ! वैसा कोई अध्याय ही नहीं है, और उस हाल में वे सारे लोग हाथ ऊपर उठाये थे कि उन्होंने उस अध्याय को पढा है। सिर्फ एक आदमी हाथ नीचे किये बैठा था। साधु जब बोल चुका और सारे लोग जाने लगे तो उसने उस बूढे आदमी को जाके पकडा और कहा: "मैं हैरान हूं, तुम जैसा आदमी चर्च में क्यों आया ? मैंने आज तक सत्य और चर्च का कोई संबंध नहीं देखा। तुमने हाथ ऊपर नहीं उठाया तो मैं हैरान हो गया। लोग झूठे ही हाथ ऊपर उठा रहे थे,

ये तो ठीक था, इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी लेकिन तुम्हें बिना हाथ उठाये देख मैं हैरान हो गया। तुमने हाथ क्यों नहीं उठाया ? मैं तुम्हारा धन्यवाद करता हूं। अगर तुम जैसे एकाध लोग भी जमीन पर शेष रहें तो धर्म नष्ट नहीं होगा। उस आदमी ने कहा : महानुभाव, आप समझने में भूल कर रहे हैं। मेरे हाथ में दर्द है, इसलिये मैं ऊपर न उठा सका। हाथ तो मैं भी ऊपर उठाना चाहता था। मजबूरी थी, माफ करें। दुबारा आप आयेंगे और हाथ उठवायेंगे तब तक मैं भी स्वस्थ हो जाऊंगा और हाथ उठाऊंगा।

सत्य पर मुझे भी यहां बात करनी है। सो मुझे भी ख्याल आया कि आपसे भी, हाथ क्यों न उठवा लूं ? लेकिन फिर यह डर लगा कि हो सकता है किसी के हाथ में तकलीफ हो और वह न उठा पाये और परेशान हो। इसलिये मैं हाथ तो नहीं उठवाऊंगा। और फिर इस कहानी के कह देने के बाद हाथ उठना भी मुश्किल हैं, लेकिन प्रत्येक से यह जरुर कहूंगा कि वह अपने भीतर जरुर हाथ उठा ले और देखले कि असत्य के लिये उसका हाथ उठता है या नहीं। क्योंकि जो आदमी जीवन की खोज में निकला हो और वह अपने भीतर सच्चा नहीं हो सकता है तो उसकी कोई खोज कभी पूरी नहीं होगी। जो आदमी धर्म को या परमात्मा को या जीवन के अर्थ को जानने के लिये उत्सुक हुआ हो और वह अपने ही प्रति सच्चा नहीं हो तो उसकी खोज व्यर्थ ही चली जायेगी। असत्य के केन्द्र पर खडा श्रम सत्य के पाने में सार्थक हो भी कैसे सकता है ? फिर ऐसा व्यक्ति चाहे मंदिरों में जाये या चर्चोंमें या मस्जिदों में और चाहे वह कहीं भी भटके, तीर्थों में या पहाडों पर लेकिन यदि वह अपने प्रति ही झूठा है तो वह जहां भी जायेगा वहां सत्य नहीं पा सकेगा। सत्य की खोज का पहला चरण अपने प्रति सच्चा होना है। और हमें यह याद भी नहीं रहा है कि हम अपने प्रति सच्चे हों। शायद हमें पता भी नहीं कि अपने प्रति सच्चे होने का अर्थ क्या है। और ऐसा भी नहीं है कि अपने प्रति असत्य कोई एक व्यक्ति ही हो। और ऐसा भी नहीं है कोई एक पीढी या एक युग ही ऐसा असत्य हो। किसी एक सदी में ही आकर आदमी अपने प्रति झूठा हो गया हो ऐसा भी नहीं है। हजारों साल से झूठ पाले और पोसे गये हैं और वे इतने पुराने हो गये हैं कि उन पर आज शक करना भी असंभव सा हो गया है। बहुत दिनों तक जब झूठ प्रचारित होते हैं तब वे सत्य जैसे प्रतीत होने लगते हैं। हजारों साल से जब किसी झूठ के समर्थन में बातें कही जाती हैं और हजारों लोग उसका उपयोग करते हैं तो धीरे धीरे यह बात ही हम भूल जाते हैं कि वह झूठ है। वह

सत्य प्रतीत होने लगती है। तो यह जरुरी नहीं है कि जो झूठ हमारे जीवन को घेरे होते हैं वे हमारी ही ईजाद हों। हो सकता है परंपराओं ने हजारों वर्षों में उन्हें विकसित किया हो। और चूंकि हमने उन्हें विकसित नहीं किया होता है इसलिये पता भी नहीं चलता है कि हम किसी झूठ का समर्थन कर रहे हैं। हमें यह याद ही नहीं आती है। हमें स्वप्न में भी ख्याल नहीं आता है कि कहीं हम अतीत द्वारा छोड गये असत्यों में तो नहीं जी रहे हैं। इस भांति बेहोशी से जीना सुविधा और सुरक्षापूर्ण भी होता है। क्योंकि, समाज द्वारा पोषित असत्यों का समर्थन समाज में सम्मान और प्रतिष्ठा भी लाता है। और ऐसा व्यक्ति किसी भी विद्रोह, क्रांति और परिवर्तन से भी स्वयं का बचाव कर लेता है। लेकिन यह स्मरण रखना जरूरी है कि सुविधा, सुरक्षा और सन्मान (Respectability) की आड में ही परतंत्रता अपनी जंजीरों को कसती और मजबूत करती है। सत्य को जाने बिना जीवन में कोई स्वतंत्रता नहीं है। सत्य ही स्वतंत्रता है। और सत्य को जो न जान सकेगा, उसके जीवन में आनन्द के झरने भी कभी न फूट सकेंगे। सत्य को जो न जान सकेगा, उसका जीवन भी कभी संगीत नहीं बन सकता। वह दुख में जियेगा और दुख में ही मरेगा। अर्थहीनता में व्यर्थ ही उसका समय अपव्यय होगा। उसका जीवन चुक जायेगा और वह जीवन को जानने से वंचित रह जायेगा। इसलिये ही मनुष्य सत्य को जानना चाहते हैं और इसलिये तो हम उन द्वारों पर भटकते हैं जहां हमें ख्याल है सत्य मिल सकेगा। हम जरुर ही प्यासे हैं नहीं तो मंदिरों और मस्जिदों में कौन जाता। हमारे भीतर जरुर आकांक्षा है लेकिन आकांक्षा अकेली ही काफी नहीं है, प्यास अकेली ही काफी नहीं है। हमें अपने भीतर असत्य की उन दीवारों को भी तोड देना है जो कि हमने खुद ही खडी करली हैं। तभी हमारा सत्य से संपर्क हो सकता है। मैंने कहा कि असत्य जो हमें घेरे हुये है, हमारी आज की ही ईजाद नहीं है। उनके होने की पुरानी कथा है। हर पीढी करीब करीब उन्हीं असत्यों को फिरसे दोहराती है जिनको पिछली पीढी ने दोहराया था। उन असत्यों में न कोई नवीनता है, न मौलिकता, वे सब बस पुनरुक्तियां (Repetition) मात्र हैं। एक पुनरावृत्ति है जो चलती चली जाती है। शायद यह ऐसा इसलिये है क्योंकि मनुष्य स्वभाव एक है। मैंने सुना है कि एक रात किसी बडे नगर में एक छोटे से गांव का निवासी आया। यद्यपि वह छोटे से गांव में रहता था, लेकिन इस बडे नगर में जब वह युवा था, तब वह भी शिक्षा लेने आया था। उसके पडौस का एक युवक आज भी उसी विद्यालय, उसी छात्रावास में था, जिसमें

वो कभी था। उसे ख्याल आया, कि मैं जाऊं और देखूं शायद छात्र अब बदल गये होंगे, विद्यालय बदल गये होंगे। मैं जब पढता था उस बात को भी... तीस वर्ष जो हो गये हैं। निश्चय ही सब बदल गया होगा। वह गया और उसने उस दरवाजे पर जाकर दस्तक दी जिसमें उसके गांव का वह युवक रहता था। दरवाजा खोला गया। वह भीतर गया और उसने जाकर उस युवक को कहा : बेटे, मैं यह देखने आया हूं कि तीस वर्ष में यहां क्या क्या बदल गया है। मकान नये हो गये थे। विद्यालय का भवन बहुत बडा हो गया था। जहां थोडे से विद्यार्थी थे, वहां बहुत विद्यार्थी थे। रास्ते सुन्दर बन गये थे। बगीचे बन गये थे। सब कुछ ऐसे बदला हुआ था। वह भीतर गया और उसने युवक की टेबिल पर रखी बाईबिल उठाई। उसने बाईबिल के ऊपर का पुट्ठा उघाडा। भीतर बाईबिल न थी, भीतर एक उपन्यास था। युवक घबडा गया। उसने कहा : यह किताब मेरी नहीं है। मैं तो किसी पडौसी से मांगकर लाया हूं। यह सुन बूढा हंसने लगा और बोला : घबडाओ मत। हम भी ऐसी किताबें बाईबिल के कवर में छुपा के ही पढते थे। बेटे, यह तो बडी पुरानी कहानी है। इसमें घबडाने की कोई बात नहीं है। और उसने चारों तरफ नजर डाली तो सामने ही अलमारी थी कपडों की। उसने दरवाजे को खोला और देखा कि अलमारी में एक लडकी छिपी खडी है! अब तो वह युवक घबडा आया और बोला : माफ करिये, यह मेरे दूर के रिश्ते की बहन है। आयी थी मुझसे मिलने। बूढा तो खूब हंसने लगा और बोला : "बिल्कुल भी घबराओ मत। हम भी यही करते और कहते थे। वही पुरानी कहानी (the same old story) है। वह बूढा लौट गया अपने गांव। वहां लोगों ने उससे पूछा : क्या देख आये हो? उसने कहा : जो देखा, उससे मैं बहुत हैरान हो गया हूं। मकान बदल गये हैं, रास्ते बदल गये हैं, बगीचे नये हो गये हैं लेकिन कहानी पुरानी की पुरानी है। आदमी वही का वही है। वही सब मैं देखके आया हूं जो मेरी जिन्दगी में था तीस वर्ष पहले। वही आज भी है। लेकिन वह बूढा आदमी बहुत हिम्मत का रहा होगा। बूढे आदमी ऐसी बातें कभी स्वीकार नहीं करते। वे तो कहते हैं अब आदमी बिगड गया है। कहां उनका जमाना, कहां आजका जमाना है। लेकिन सत्य यही है कि जमाने सब वही हैं। किन्तु बूढे भूल जाते हैं कि अपने जमाने में वे कैसे थे। अन्यथा सच्चाइयां एक ही जैसी हैं। हजारों वर्षों से आदमी पुनरुक्तियां कर रहा है। कोई नयी पीढी या नया आदमी नहीं पैदा हो गया है। पुरानी ही बीमारियां बार बार होती हैं। पुराने ही रोग दुहरते

ह । पुरानी बात फिर होती है । सब पुराना होता है । हम भी जिन असत्यों से घिरे हैं वे कोई नये नहीं हैं । हजारों वर्षों से वे असत्य चल रहे हैं । एक आदमी के ऊपर इनकी ईजाद का जिम्मा नहीं है । पीढियों. . . . दरपीढियों ने उन्हें विकसित किया है और एक एक आदमी को यह पता भी नहीं चलता है कि वह किन चीजों से बंधा है । वे सच हैं या झूठ ? जब एक मंदिर के सामने कोई हाथ जोड़कर खडा हो जाता है तो जो आदमी हाथ जोडकर खडा है उसने इस मंदिर को नहीं बनाया और जिस भगवान के सामने वह हाथ जोडकर खडा है उसे भी उसने नहीं गढा है, उसे तो बपौती में यह मंदिर मिला है । और ये भगवान मिले हैं, और अनजान अवस्था में सिखाई गई शिक्षायें मिली हैं, भय मिले हैं और प्रलोभन मिले है । उन्हीं शिक्षाओं में बंधा वह पूजा कर रहा है, प्रार्थना कर रहा है । उन्हीं भय और प्रलोभनों से घिरा वह भगवान का स्मरण कर रहा है । न उसे भगवान का कोई पता है, न भगवान के मंदिर का । उसे तो यह भी पता नहीं है कि जिस मंदिर के सामने वह खडा है । वह सत्य का है या असत्य का ? उसे तो वस्तुतः कुछ भी पता नहीं है । वह नहीं जानता है कि जिस परमात्मा को वह नमस्कार कर रहा है वह परमात्मा है भी या कि बस उसकी कल्पना मात्र ही है । उसे यह भी ज्ञात नहीं है कि वह जो कर रहा है उसमें कुछ अर्थवत्ता भी है या कि यह सब व्यर्थ और मूढतापूर्ण है ! उस बेचारे ने तो बस उसे जो कहा गया है उसे स्वीकार कर लिया है । उसकी यह अंधी स्वीकृति ही उसका बंधन बन गई है । और इस अंधी स्वीकृति में ही असत्य के भवन का आधार है । यह अतर्क्य स्वीकार ही परतंत्रता है । और आश्चर्य है कि ऐसी जडता को आस्तिकता कहा जाता है ? जिस सत्य को मैं नहीं जानता हूँ, उसकी स्वीकृति से बडी और कोई मूढता नहीं है । और मूढता आस्तिकता कैसे हो सकती है ? नहीं. नहीं. तीन बार नहीं । मूढता आस्तिकता नहीं है । वह तो आत्मघात है । सत्य के पक्ष में जिसे खडा होना है, उसके लिये मार्ग स्वीकार नहीं, साक्षात्कार है । इसलिये मैं आपसे पहली बात यही कहना चाहता हूं कि जो व्यक्ति, समाज और परंपरा के द्वारा कहीं गई बातों को बिना सोचे विचारे और बिना स्वयं जाने स्वीकार कर लेता है, वह सदा के लिये असत्य के पक्ष में खडा हो जाता है । सत्य वही है जो स्वयं जाना जाता है । दूसरे का ज्ञान मेरा सत्य नहीं बन सकता है । सत्य सदा ही व्यक्ति अनुभव है. वह समष्टि की धारणा नहीं है । वह जब भी है मेरा है । दूसरे का होते ही वह मेरे लिये असत्य है । इसलिये सत्य का

न कोई शास्त्र है न परंपरा है। उसकी उपलब्धि सदा ही मौलिक है। वह प्रत्येक बार नया है। वह प्रत्येक के लिये नया ही आविर्भाव है, नया ही अवतरण है। इसलिये जिसे उसके निकट पहुंचना है उसे अंध स्वीकार में नहीं पडना चाहिये, उसकी आंख सदा खुली होनी चाहिये और उसका सोच विचार सजग होना चाहिये। उसका तर्क सचेत होना चाहिये। उसका चित्त कभी भी स्वीकृति के लिये चुपचाप राजी नहीं होना चाहिये। उसके भीतर विचार और संदेह का विकास होना चाहिये। तो ही वह बच सकेगा। अन्यथा, असत्य उसे पकड लेंगे और उनमें घिर जायेगा। और असत्यों में घिर जाना इतना संतोषदायी है, जिसका कि कोई हिसाब नहीं। असत्य में घिर जाना इतनी तृप्ति देता है जिसका कोई अंत नहीं। सत्य को पाना तो तप (Ardous) है। सत्य को पाना तो एक तपश्चर्या है। सत्य को पाना तो एक श्रम है। और असत्य को, असत्य को तो हम निद्रा में ही स्वीकार कर लेते हैं। उसके लिये तो जागना भी आवश्यक नहीं है, वहां न कोई श्रम है, न कोई तप है। सिर्फ हमारी स्वीकृति भर चाहिये। और स्वीकृति अगर हमारे अहंकार को तृप्ति देती हो, संतोष देती हो तो फिर कहना ही क्या है! यदि मैं आपसे कहूं कि आप अमर हैं तो आपका मन एकदम मानने को राजी हो जायेगा, इसलिये नहीं कि मैंने आपसे जो कहा है उसमें सत्य की झलक है बल्कि इसलिये कि आपका मन मरने से डरता है। मृत्यु का भय है, इसलिये आत्मा की अमरता को स्वीकार करने को कोई भी राजी हो जायेगा। आत्मा की अमरता को स्वीकार करने में कोई सत्य का अनुभव हुआ हो ऐसा नहीं है, बल्कि हमारे भीतर मृत्यु का जो भय था उसको ऐसे छिप जाने के लिये सस्ती ओट मिल जाती है। ऐसे हम मृत्यु भय से एक अस्थायी बचाव और पलायन कर लेते हैं। इसलिये जो लोग मौत से जितना डरते हैं, जितने भयभीत होते हैं, उतने ही आत्मा की अमरता के विश्वासी हो जाते हैं। जो कौम जितनी मृत्यु से भयभीत होती है, उतनी ही धार्मिक हो जाती है। यह धर्म असत्य है क्योंकि भय से धर्म का कोई भी संबंध नहीं है। धर्म का संबंध है अभय से। भय (Fear) से धर्म का क्या नाता है? धर्म का संबंध है अभय (Fearlessness) से। लेकिन हमारी ये स्वीकृतियां हमारे भय पर ही खडी होती हैं। जिन असत्यों से हम घिरते हैं उनसे हमें झूठी सान्त्वनायें (Consolation) मिलती हैं। और ये झूठी और सस्ती सांत्वनायें ही असत्यों से बांधनेवाली जंजीरें सिद्ध होती हैं। एक परिवार में कोई चल बसता है और लोग उससे जाके कहते हैं: आत्मा अमर है। रोओ मत, घबडाओ मत। तो बडा संतोष मिलता

है। बडी सांत्वना मिलती है और ये जो लोग कह रहे हैं इनके घर में कोई चल बसेगा और ये भी रोयेंगे और जिसके घर में इन्होंने जा के समझाया था वही इनको भी समझायेगा कि रोओ मत, घबडाओ मत। शरीर ही मरता है, आत्मा तो अमर है। इन्होंने उसे जाकर सांत्वना दी थी तो वह इन्हें आकर सांत्वना देगा। न उसे आत्मा की अमरता का कोई पता है और न इन्हें। लेकिन आत्मा की अमरता एक संतोष बन गई, एक सांत्वना बन गई और तब इस असत्य से चिपटे, रहने का हमें आधार मिल जाता है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि आत्मा अमर नहीं है, मैं तो बस यह कह रहा हूं कि जो बिना जाने इन बातों से चिपट जाता है, वह असत्य से चिपट जाता है। लेकिन जानकर, देखकर, समझकर, अनुभव से जिसके जीवन में ये प्रतीतियां उपलब्ध होती हैं, वह सत्य को उपलब्ध होता है। हमारी पहुंच (Approach) हमारी दृष्टि यदि अंधे स्वीकार की है तो हम कभी भी असत्य के ऊपर नहीं उठ सकते और न केवल हम जीवन और जगत् के संबंध में असत्यों को स्वीकार करते हैं, हम अपने संबंध में भी असत्यों को स्वीकार कर लेते हैं। सुखद हैं वे असत्य। बडे प्रीतिकर मालूम होते हैं। आदमी से कहो कि भगवान ने मनुष्य को सभी प्राणियों से श्रेष्ठ बनाया है। आह! और वह कितनी खुशी से इसे स्वीकार कर लेता है। अहंकार को ऐसे बडी तृप्ति मिलती है। लेकिन क्या कभी और पशु पक्षियों से भी इस संबंध में गवाही ली गई है? क्या कभी उनसे भी पूछा गया है कि तुम्हारा ख्याल क्या है? आदमियों ने एक तरफा निर्णय कर लिया कि हम सर्वश्रेष्ठ हैं। पुरुषों से कहो कि पुरुष स्त्रियों से श्रेष्ठ हैं तो सभी पुरुष सहज ही राजी हो जाते हैं। और स्त्रियों की गवाही लेने की तो कोई जरुरत ही नहीं है। भारतीयों से पूछो तो वे कहेंगे कि जमीन पर हमसे ज्यादा कोई श्रेष्ठ कौम नहीं है। यही पवित्र भूमि है। यहीं सदा भगवान जन्म लेते हैं। इसके लिये कोई भारतीय संदेह पैदा नहीं करता। क्योंकि सभी के अहंकार की इसमें तृप्ति होती है। जर्मनी के निवासी भी स्वयं के संबंध में ऐसा ही मानते हैं और चीन के लोग भी। सारे देशों के लोग ही ऐसा मानते हैं। अहंकार की लीला विचित्र है। वह कहता है: 'मैं ही जगत्-गुरु हूं।' मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूं। लेकिन 'मैं' में तो उसके दर्शन भी हो सकते हैं, 'हम' में तो फिर उसके दर्शन ही दुर्लभ हो जाते हैं। इसलिये अहंकार के सबसे घातक रूप सदा 'हम' के होते हैं। हम भारतीय, हम जर्मन, हम इंग्लिश, हम रुसी, हम हिन्दु, हम जैन, हम मुसलमान। और हम मनुष्य!

जब डारविन ने पहली बार कहा कि आदमी भी पशुओं में से एक पशु है तो सारी दुनिया में डारविन का विरोध हुआ। इसलिये नहीं कि उसने जो कहा था वह असत्य था बल्कि इसलिये कि उससे हमारे अहंकार को बडी चोट पहुंची थी। हम ईश्वर के पुत्र थे और उस नासमझ ने कह दिया कि हम पशुओं के पुत्र हैं। बहुत क्रोध आया, बहुत गुस्सा आया। हजारों साल से हम मानते थे कि सूर्य जमीन का चक्कर लगाता है। फिर आये कापरनिकस और गैलोलियो और उन्होंने कहा: नहीं, जमीन ही सूरज का चक्कर लगाती है। सारी दुनिया में विरोध हुआ। चर्चों में धर्म पुरोहितों ने कहा: झूठी है यह बात, क्योंकि भगवान ने आदमी अपनी शक्ल में बनाया है। पृथ्वी को दुनिया का केन्द्र बनाया और आदमी को यहां पैदा किया। सूरज ही चक्कर लगाता है हमारी जमीन का। जमीन कैसे उसका चक्कर लगा सकती है। हम इस जमीन पर रहते हैं। मनुष्य जिस जमीन पर रहता है, वह जमीन सूरज का चक्कर लगायेगी? नहीं सूरज ही हमारा चक्कर लगाता है। जमीन केन्द्र है दुनिया की क्योंकि मनुष्य का अहंकार तृप्त नहीं होता है। और केन्द्र होकर भी क्या वह तृप्त होता है? वह तो शायद अनन्त अतृप्ति का ही केन्द्र है! उसकी तृप्ति तो कभी भी नहीं है। बर्नाड शा ने एक बार कह दिया था कि गलत है यह बात कि पृथ्वी सूरज का चक्कर लगाती है। नहीं। बिल्कुल नहीं। सूरज ही पृथ्वी का चक्कर लगाता है। किसी ने पूछा किस आधार पर कहते हैं आप? अब तो सब तरह से प्रमाणित हो गया है कि जमीन ही चक्कर लगाती है? तो बर्नाड शा ने हंसकर कहा था कि इसी आधार पर कहता हूं कि मैं बर्नाड शा इस पृथ्वी पर रहता हूं! । और जिस पृथ्वी पर 'मैं' रहता हूं 'वह किसी का चक्कर कैसे लगा सकती है? मजाक में उसने यह बात कही थी। लेकिन पूरी आदमियत पर ही हो गया यह व्यंग। आदमी किसी भांति रो धोकर डार्विन, कापरनिकस और गैलीलियो को मानने को राजी ही हो पाया था कि मार्क्स और फ्रायडने और भी सांघातिक चोटें उसके अहंकार को पहुंचा दीं। मार्क्स ने उसके सारे धर्म और अध्यात्मिकता के पीछे अर्थव्यवस्था को खोज लिया और फ्रायड ने कहा कि मनुष्य के जीवन का केन्द्र यौन (Sex) है। इन तथ्यों ने तो और भी बैचेनी खडी करदी। हजारों वर्षों का खडा मानवीय अहंकार का महल ही जैसे धराशायी हो गया था। मनुष्य को ऐसा लगा कि जैसे उससे उसका सबकुछ ही छीन लिया गया है। आह! वह तो मानता था कि भीतर राम (God) हैं, और यह फ्रायड कहता है कि राम नहीं, काम (Sex) है!

कहां तो आदमी स्वयं को सब देवताओं से थोडा ही नीचे मानता था और अब वह पशुओं से थोडा भी ऊंचा नहीं रह गया था। मनुष्य एकदम दिवालिया हो गया था और वह इसे मानने को कैसे राजी हो सकता था? उसने बहुत विरोध किया....बहुत हाथ पैर फडफडाये। लेकिन तथ्यों के साथ यदि खराबी है तो बस एक यही कि वे हमारे मनोनुकूल होने को बाध्य नहीं किये जा सकते हैं। लेकिन तब भी हम एक काम कर सकते हैं? हम उनके प्रति आंख मूंद सकते हैं और अपने मनोनुकूल सपने देख सकते हैं। आदमी सदा से यही करता आया है। उसकी यह शुतुरमुर्ग जैसी शत्रुको देख रेत में मुंह छिपा लेने की आदत बहुत पुरानी है। शुतुरमुर्ग शायद ऐसा न भी करता हो और हो सकता वह केवल कवि कल्पना हो, लेकिन मनुष्य तो निश्चय ही ऐसा करता है। फ्रायड यदि आत्मा या परमात्मा की कोई बात कहता या पवित्र प्रेम की कोई बात करता तो उसे ऋषियों की लंबी 'श्रृंखला में एक आदरणीय स्थान भी मिल सकता था। लेकिन उस पागल ने अपने ही हाथों अपना स्थान खो दिया तो बेचारा आदमी इसमें क्या कर सकता है?

मनुष्य तो बस उन्हीं बातों को स्वीकार करता है जिससे उसके अहंकार को तृप्ति मिलती है। और उसका यह रोग बिल्कुल सनातन है। और इसका परिणाम यह हुआ है कि आदमी ने अपने आसपास परिकथाओं (Myth))का एक कल्पना जाल बुन लिया है और उस जाल में ही वह विश्वास किये जाता है और वह जाल इतना झूठा है कि जो भी उस जाल में घिर जाता है, वह सत्य के प्रति आंखें भी नहीं खोल पाता है। ऐसा करने से वह खुद ही डरेगा क्योंकि सत्य की तरफ आंखें उठाना इस जाल का टूटना बन जायेगा। किन्तु जब तक हम मनुष्य के जीवन के तथ्यों को सीधा न जान लें तब तक हम जीवन के सत्य को भी नहीं जान सकते हैं।

सत्य को जान लेने के पहले जीवन के तथ्यों को जान लेना जरूरी है। क्योंकि जो जीवन तथ्यों (Facts) को ही नहीं जानता, वह जीवन सत्य (Truth) को कैसे जान सकता है? और फिर वे तथ्य कितने ही कडुवे, कितने ही तीखे, कितने ही जलन पैदा करने वाले क्यों न हों। तथ्यों को जान लेना बहुत जरूरी है। और कल्पनायें, कितनी ही सुखद, कितनी ही मधुर, कितनी ही प्रीतिकर क्यों न हों, वे कल्पनायें ही हैं। उनपर चढकर कोई सत्य की यात्रा नहीं कर सकता है। सपनों की नावों में सागर नहीं तैरा जा सकता है। और न ही इन्द्रधनुषों के सेतुओं से परमात्मा तक पहुंचा जा सकता है। हां यह हो

सकता है कि शब्द कोष में जो 'सागर' हैं, सपनों की नावों में उसे पार किया जा सके और शास्त्रों में जो परमात्मा है, उस तक इन्द्रधनुषों के सेतु से पहुंचा जा सके। लेकिन वह सागर सपनों से ज्यादा सत्य नहीं है और वह परमात्मा भी इन्द्रधनुषों से ज्यादा ठोस नहीं है। और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि सपने कहीं पहुंचाते तो नहीं, लेकिन कहीं पहुंचने से रोक अवश्य लेते हैं।

मनुष्य के जीवन में जो सबसे बडी दुर्घटना घट गई है वह यही है कि उसने अपने आसपास कल्पनाओं का एक ऐसा जाल बुन लिया है जो उसे कदम कदम पर रोकता है और सत्य की ओर बढने में बाधा डालता है। लेकिन इसे तोडने में भी.....उसे बडी झिझक होती है, क्योंकि वह तो उसे स्वप्न नहीं, सत्य ही मानता है। और जिसे वह सत्य मानता है, उसे वह और बुनता ही चला जाता है और फिर धीरे धीरे स्वयं ही उस जाल में खो जाता है। और फिर पता ही लगाना मुश्किल हो जाता है कि वह स्वयं ही कौन है?

एक सम्राट के संबंध में मैंने सुना है कि वह रोज १ घंटे के लिये अपने भवन के एक कमरे में ताला लगाकर भीतर बंद हो जाता था। उसके परिवार का प्रत्येक व्यक्ति उत्सुक था, उसके नगर के निवासी उत्सुक थे, उसकी रानियां उत्सुक थीं, उसके दरबारी उत्सुक थे, उसके वजीर उत्सुक थे कि आखिर वह वहां करता क्या है? वहां वह क्या करता है इसकी उत्सुकता सभी को थी। लेकिन कभी कोई उस द्वार के भीतर नहीं जा सका था। उसकी चाबी वह सम्राट सदा अपने ही पास रखता था। आखिर लोगों की उत्सुकता चरम सीमा पर पहुंच गई और सारे घर के लोगों ने मिलकर एक षडयंत्र किया कि देखें वह वहां करता क्या है। उससे पूछते थे और वह हंस देता था, कभी कुछ बताता नहीं था। आखिर जब घर के सारे लोग, रानियां और वजीर और उसके सारे मित्र और परिजन सहमत हो गये तो उन्होंने उस दीवार में एक छेद किया... रातों रात, ताकि कल सुबह जब वह भीतर जाये तो वे उसमें से झांक कर देख सकें कि वह वहां करता क्या है। और फिर दूसरे दिन जिसने भी झांककर देखा, वह छेद से जल्द ही पीछे हट आया था। उसने कहा : 'अरे! बडी अजीब बात है? सम्राट यह क्या करते हैं?' सभी ने झांककर देखा और जल्दी से लोग छेद से अलग हट आये। वहां वह क्या करता था? वहां जाकर वह अपने सारे वस्त्र निकाल के अलग फेंक देता था और नग्न खडा हो जाता था। और परमात्मा से कहता था: "यह मैं हूं। वह मैं नहीं था जो अभी कपडे पहने हुये था। और हाथ जोडकर परमात्मा से पुनः पुनः कहता था : यह मैं हूं। वह कोई था जो उन वस्त्रों में

छिपा था । वह झूठा आदमी था । क्योंकि सत्य को वस्त्रों की क्या आवश्यकता है? तो उन कपडों को पहने मैं तेरी प्राथना कैसे करुं जो कि झूठे थे । उन कपडों को पहन तेरी प्रार्थना कैसे करुं जो कि सत्य नहीं थे । वे मेरे अहंकार की सजावट तो थे लेकिन मेरी सचाई न थे । मैं तो यह हूं. . . . नंगा आदमी. . . बिल्कुल नग्न. . तो नग्न होकर ही मैं तेरे पास आ सकता हूं । क्योंकि सत्य हुये बिना कोई तेरे पास कैसे आ सका है ?" वह सम्राट निश्चित ही बडा अद्‌भुत व्यक्ति रहा होगा क्योंकि स्वयं के समक्ष स्वयं के नग्न सत्य को जानने से बडी और कोई साधना नहीं है । और न ही उससे बडी कोई तपश्चर्या है । और सत्य के प्रत्येक खोजी को ही इस तपश्चर्या से गुजरना पडता है । जो भी सत्य के निकट जाना चाहते हैं, उन सभी को स्वयं को स्वयं की परिपूर्ण नग्नता (Nakedness) में जानना होता है । इस साक्षात्कार से बचा नहीं जा सकता है । यह तो अत्यंत अनिवार्य चरण है । और जो इससे बचना चाहता है वह अंततः स्वयं से ही वंचित रह जाता है । स्मरण रहे कि जो अपने वस्त्रों और आवरणों को भी परमात्मा के मंदिर तक ले जाना चाहता है, वह कभी उस मंदिर के निकट भी नहीं पहुंच पाता है क्योंकि वस्त्रों और आवरणों के अतिरिक्त उसके मार्ग से भटकाने वाली और कोई वस्तु ही नहीं है । वह तो अत्यंत निकट है लेकिन हमारे वस्त्र ही हमें उससे दूर किये हुये हैं । और क्या हमें ज्ञात नहीं है कि हमारे वस्त्र मात्र झूठे हैं . . . असत्य हैं ? क्या जैसे हमारे वस्त्र हैं, ठीक उनसे विपरीत और भिन्न ही हम नहीं हैं ? वस्त्र तो सौन्दर्य के हैं, और क्या भीतर कुरुपता नहीं है ? असल में उस कुरुपता को ही ढांकने को तो सौन्दर्य वस्त्रों को ओढना पडता है ! वस्त्र तो प्रेम के हैं, लेकिन भीतर घृणा है । घृणा को छिपाने के लिये ही तो प्रेम के वस्त्र खरीदने पडते हैं ! वस्त्र तो आनन्द के हैं और भीतर दुख है । वस्तुतः दुख विस्मरण के लिये ही तो आनन्द के वस्त्र आविष्कृत करने होते हैं । मनुष्य बडी पहेली है । वह जैसा बाहर है, उससे ठीक उल्टा भीतर है ! और जैसे हम भीतर हैं वही हमारी तथ्यता (Factuality) है ! इस तथ्यता को ही उसकी पूर्णता में जानने को मैं कह रहा हूं । क्योंकि उसे जानकर ही उससे ऊपर उठा जा सकता है : वस्तुतः तो उसे ठीक से जानना ही उससे ऊपर उठ जाना है । लेकिन उसके प्रति आंखें बंद करने से तो यह नहीं हो सकता है । उसे हम जानें तो ही उसे विदा किया जा सकता है । उसे भूले रहना, उसपर विजय का कोई मार्ग नहीं है । पलायन (Escape) तो बस निद्रा है, मूर्च्छा है । वह क्रांति नहीं है । वह आत्म परिवर्तन नहीं है । जिसे बदलना है, जिससे मुक्त होना है, उसे तो जानना ही होता है । क्योंकि उसका

ज्ञान ही उसके मूल कारणों (Casuality) को उघाडता है और जिस तथ्य की जडों (Roots) को हम जान लेते हैं, हम उसके मालिक हो जाते हैं। बिना भूल को जाने हम जो भी करते हैं वह व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ भी होता है। एक आदमी बीमार था। उसकी बीमारी बडी अजीब थी। और कोई चिकित्सक उस बीमारी का ठीक ठीक निदान नहीं कर पाता था। उस आदमी की आंखें बाहर निकली पडती थीं.. कान में झनझन की आवाज होती थी और सिर चक्कर खाता हुआ मालूम पडता था। वह बहुत बडा धनपति था सो उस देश के जो बडे से बडे चिकित्सक थे, वह उनके पास गये। किसी ने कहा: तुम्हारी आंखें कमजोर पड गई हैं... चश्मे की जरुरत है। उसने चश्मा लगाना शुरु किया लेकिन बीमारी जहां थी वहीं रही और उल्टे उसकी आंखें खराब होने लगीं। वह दूसरे चिकित्सकों के पास गया। किसी ने कहा : तुम्हारे दांत खराब हो गये हैं... सब निकाल देने पडेंगे। उसके सारे दांत निकाल दिये गये। लेकिन बीमारी जहां थी वहीं रही। किसी ने कहा तुम्हारे पेट में खराबी है... एपेंडिक्स निकाल देना पडेगा। और उसके एपेन्डिक्स का भी आपरेशन कर दिया गया, लेकिन बीमारी जहां थी वहीं रही। वो परेशान हो गया लेकिन बीमारी हटती ही नहीं थी। आखिर वह अंतिम चिकित्सक के पास गया। चिकित्सक ने उसकी जांच की और कहा बीमारी का कोई कारण नहीं मिलता है इसलिये बीमारी ठीक नहीं हो सकती। मैं तुम्हें बताये देता हूं कि तुम व्यर्थ परेशान मत होओ। तुम छह महीने से ज्यादा जिन्दा नहीं रह सकोगे। मैं तुम्हें सच्ची बात कह देता हूं। तुम दांत निकलवाओं, तुम आंखें निकलवाओ, तुम्हें जो भी निकलवाना है निकलवाओ पर तुम बीमारी से मुक्त नहीं हो सकोगे। बस तुम्हारे जीवन के छह महीने और शेष हैं। उस आदमी ने डाक्टर को धन्यवाद दिया और कहा आपने बडी कृपा की। जो सत्य मुझसे कह दिया है। जब यह तय ही हो गया कि छह महीने से ज्यादा नहीं बचना है तो उसने एक बडा भवन खरीदा... बहुत सुन्दर गाडियां खरीदी... जो भी उपलब्ध था उस देश में भोग के लिये उसने सब खरीद लिया। उसने सोचा जब अब छह महीने ही जिन्दा रहना है तो ठीक से ही जी लूं। उसने देश के सबसे बडे दर्जी को आज्ञा दी कि उसके लिये २०० सूट तैयार किये जायें... श्रेष्ठतम वस्त्रों के। मैं अब रोज नये कपडे ही पहनूंगा.... क्या जरुरत है कि पुराने कपडे दोहराऊं। उस दर्जी ने नाप लिया और सारा नाप अपने सहयोगी को लिखवाया। गले का नाप लिया और कहा लिखो : १६. उस धनपति ने कहा : नहीं मैं हमेशा १५ का

ही कालर पहनता हूं। यह सुन उस टेलर ने कहा : आप पंद्रह नहीं, जितने का चाहें उतने का पहनिये लेकिन पंद्रहका आप पहनेंगे तो आंखें बाहर को निकली मालूम पडेंगी, सिर घूमता मालूम पडेगा. . . चक्कर आते मालूम पडेंगे। पंद्रह का नहीं चौदह का पहनिये. . . जितनी आपकी मर्जी हो उतनी का पहनिये। वह धनपति तो यह सुन अवाक् ही रह गया और फिर कहा : 'क्या कहते हो?' मैं हमेशा से पंद्रह का ही पहनता हूं और मेरी आंखें भी बाहर को निकली मालूम पडती हैं, मेरे कान भी झनझनाते हैं और मुझे चक्कर भी आते हैं। दर्जी बोला : वे आयेंगे ही। कालर जब बहुत कसा हो तो यह होनेवाला ही है। वह धनपति अभी जिन्दा है ! यह बात हुये तीस साल हो गये हैं। उस आदमी ने ही मुझसे यह घटना कही है। कोई चिकित्सक उसे ठीक नहीं कर सका था। बीमारी उसकी वहां नहीं थी जहां चिकित्सक खोजते थे।

आदमी की बीमारी भी वहां नहीं है जहां पुरोहित उसे बताते हैं. . . जहां चिकित्सक उसे समझाते हैं. . . बल्कि उनकी चिकित्सा उसे और बीमार बनाती गई है। आदमी की बीमारी बहुत सरल व सीधी है। लेकिन चिकित्सक की दृष्टि में वह आ नहीं सकती है। क्योंकि जो लोग शास्त्रों, शब्दों और सिद्धांतों की जटिलताओं में खो जाते हैं, वे सीधी और सरल बात देखने में असमर्थ ही हो जाते हैं। सदा शास्त्रों और सिद्धांतों में ही देखनेवाले लोग जीवन के सरल तथ्यों को देखना भूल ही जाते हैं। जो कठिन नहीं है, जो जटिल नहीं है, वह उन्हें दिखाई ही नहीं पडता है। उसमें उनके लिये कोई चुनौती ही नहीं होती है। और जीवन सदा सरल है। जीवन के तथ्य सदा सीधे हैं। इसलिये शास्त्रीय बुद्धि जीवन से निरंतर दूर से दूर होती जाती है। फिर जीवन और स्वयं के बीच सिद्धांतों की इतनी बडी दीवार खडी हो जाती है कि उसके पार देखना असंभव ही हो जाता है और यह तो आपको ज्ञात होगा कि शास्त्र और सिद्धांत कभी भी पारदर्शी (Transparent) नहीं होते हैं !

शास्त्र बुद्धि, जो कि अबुद्धि का ही दूसरा नाम है, जो निदान करती है और जो उपचार करती है उससे और नयी बीमारियां जन्म पाती चली जाती हैं। शास्त्रीयता ने मनुष्य को ऐसी बीमारियां दी हैं कि परमात्मा भी आश्चर्य करता होगा क्योंकि वह स्वयं नहीं दे पाया था, वह तथाकथित बुद्धिमान मनुष्यों ने स्वयं ही ईजाद कर ली हैं ! शास्त्रीय बुद्धि ने मनुष्य के अज्ञान को बडी सुरक्षा प्रदान की है। और यह उसने किया है तथ्यों से पलायन करने

की विधि द्वारा। मनुष्य में तथ्यों के प्रति असंवेदनशील होने की क्षमता विकसित करके यह किया गया है। और जो भी व्यक्ति तथ्यों के प्रति असंवेदनशील (Insensitive) है, वह सहज ही जीवन के प्रति जडता, अंधेपन और बधिरता को उपलब्ध हो जाता है। मनुष्य जाता है, शास्त्रों और गुरुओं के पास अपनी समस्याओं के सुलझाव के लिये और शास्त्र और गुरु उसकी समस्याओं को कल्पनाओं, सिद्धांतों, और अनुमानों के जाल और धुयें में छिपा देते हैं। ऐसे वह केवल भ्रम में ही पडता है। समस्यायें अपनी जगह ही बनी रहती हैं और आंखों से ओझल होने के कारण और भी विकृत और विक्षिप्त रुप गृहण करती हैं और उनके सुलझाव के लिये प्रस्तावित कल्पनायें और भी नयी समस्यायें खडी कर देती हैं। मानलें, एक व्यक्ति अति-काम (Sex) से पीडित है। शास्त्र उससे कहेंगे : आत्मातो परम पवित्र और शुद्ध बुद्ध है। वह तो निर्विकार और निष्काम है। तू उसका ही ध्यान कर... उसका ही स्मरण कर... उसमें ही रमण कर। या कहेंगे : राम में मन लगा तो फिर काम कहां बचेगा? राम में मन नहीं है, इसलिये काम है! ऐसी बातें सुनने में भी अच्छी लगती हैं और काम पीडित चित्त स्वयं ही यह मानने को आतुर होता है कि वह तो निष्काम है, निर्विकार है, वहतो स्वयं परमात्मा है! आह! और वह इन्हीं सपनों में खोने की कोशिश में पड जाता है। इससे काम से तो मुक्ति नहीं होती .. काम तो और भी कुरुप और दमित रुपों में प्रवाहित होने लगता है। वह तो और भी छिपा हुआ घाव बन जाता है और जितना ही वह दुखता है, उतने ही जोर से राम का जप बढता जाता है। ऐसे एक पागलपन पर दूसरा पागलपन और सवार हो जाता है। काम का अन्तर्जप तो चल ही रहा था और उसके ही ऊपर राम का जप और चलने लगता है। इस सबसे चित्त स्वस्थ नहीं, और अस्वस्थ और विक्षिप्त ही होता है। जिन बातों के स्मरण या चिन्तन से बीमारी का कोई भी संबंध नहीं है, उनका स्मरण और चिन्तन अंततः घातक ही सिद्ध हो सकता है। ऐसे अध्ययन, मनन् और निदिध्यासन से केवल स्वयं को मूर्च्छित किया जा सकता है.... स्वयं को भुलाया जा सकता है और उन तथ्यों को छिपाया जा सकता है जो कि पीडादायी थे। लेकिन तथ्यों को भुलाना क्या कोई मार्ग है? इससे ज्यादा अवैज्ञानिक और मूढतापूर्ण तो और कोई धारणा ही नहीं हो सकती है। तथ्यों से तो पूर्णतया परिचित होना जरुरी है। उन्हें तो ढांकना नहीं, उघाडना आवश्यक है। उनसे भागना नहीं, उनके प्रति तो जागना आवश्यक है। जीवन जैसा है... उसे वैसा ही... बिल्कुल वैसा ही जानना है। जीवन

का उसके पूर्ण निर्वस्त्र. . . . पूर्ण नग्नरुप में साक्षात्कार करना है। और यह निरीक्षण (Observation) अपरोक्ष (Immediate) ही हो सकता है। शास्त्रों और सिद्धांतों को बीच में नहीं लिया जा सकता है। उनके बीच में लेते ही जीवन को वस्त्र मिल जाते हैं और सब वस्त्र झूठे हैं क्योंकि वे नग्न तथ्यों को छिपाने के लिये ही आविष्कृत किये गये हैं। निरीक्षण चाहिये सीधा (Direct) और बिल्कुल शुद्ध। बीच में कुछ भी हो तो निरीक्षण अशुद्ध हो जाता है। उससे आंखें फिर वहीं नहीं देखती हैं, जो है, बल्कि वह देखने लगती हैं जो कि होना चाहिये। और देखना है उसे 'जो है' (That which is) उसे नहीं जो कि 'होना चाहिये' (That which ought to be)। 'जो है', वही तथ्य है। 'जो होना चाहिये, वह सब मनुष्य निर्मित कल्पनायें और आकांक्षायें हैं और आश्चर्य तो यही है कि उसके ही कारण वह नहीं हो पाता है जो कि हो सकता है। 'जो है', उसके ज्ञान से 'जो होना चाहिये' वह सहज ही फलित होता है। और 'जो होना चाहिये', उसकी कल्पनाओं और सपनों में खोये रहने से वही नहीं जाना जा सकता है 'जो कि है' और उसके जाने बिना. . . उसके प्रति जागे बिना जीवन में न कोई क्रांति संभव है, न कोई रुपांतरण, न कोई उर्ध्वगमन। तथ्य के अतिरिक्त सत्य का कोई द्वार ही नहीं है . . . कोई मार्ग ही नहीं है। इसलिये जब भी कोई व्यक्ति स्वयं की तथ्यता (Factuality) के साक्षात के लिये तत्पर हो जाता है, तभी उसके जीवन में एक आमूल क्रांति का प्रारंभ हो जाता है। वास्तविक और मूलभूत क्रांति (Mutation) का प्रारंभ सदा ही यही है। तथ्यों का दर्शन.. वास्तविक तथ्यों का निरीक्षण. . . तथ्यता का समग्र साक्षात ही व्यक्ति को उस ठोस भूमि पर खडा करता है, जहां कि जीवन की जडें हैं। और जीवन की जडों को जान लेना जीवन क्रांति के सूत्रों को उपलब्ध हो जाना है। यह ज्ञान, यह बोध ही फिर क्रांति बनने लगता है। और वह क्रांति आरोपित नहीं होती है। वह तो सहज स्फुरणाही, सहज रुपांतरण ही. . . . मौन और शांत परिवर्तन ही होती है। जैसे बीज से अंकुर फूटता है. . . . अज्ञात में शांत और निस्तब्ध, ऐसी ही वह क्रांति है। जैसे सूर्योदय के साथ ही बिना किसी पगध्वनि के पृथ्वी से अंधकार और निद्रा विदा हो जाती है और पक्षी गीत गा उठते हैं और वृक्ष जाग उठते हैं और जीवन के समस्त रुपों में जागरण की विद्युत दौड जाती है, ऐसी ही सहज और सरल वह क्रांति है। उसे लाना नहीं होता है। वह तो आती है। बस बोध के, होश के द्वार खुले चाहिये . . इसके अतिरिक्त उसके आगमन की और कोई भी शर्त नहीं है।

लेकिन आत्मक्रांति के लिये हम जो करते हैं,... सदियों सदियों से कर रहे हैं, वह बिल्कुल ही उल्टा है। हम तो बोध (Consciousness) को ढांकते हैं। हम तो तथ्यों और स्वयं के बीच वस्त्रों की भारी दीवार खडी करते हैं। हमारा सारा तथाकथित व्यक्तित्व (Personality) ही ऐसी दीवार है। व्यक्ति (Individual) कहां, हम तो बस अभिनय हैं। वस्त्र और अभिनय, झूठे चेहरे और मुखोटे,..और इनके ही बीच वह खो ही गया है जो कि हमारा वास्तविक और मौलिक चेहरे (Original Face) है। आदमी शरीर पर ही वस्त्र पहने होता तो भी ठीक था। लेकिन नहीं उसने तो आत्मा पर भी वस्त्र पहन लिये हैं और उसने तो सारे जीवन को ही नाटच मंच बना डाला है। हमारी सारी सभ्यता, और हमारी सारी संस्कृति और क्या है? अभिनय और अभिनय.. वस्त्र और वस्त्र! और फिर इस सबमें मनुष्य खो ही गया हो तो आश्चर्य नहीं है। आह! बेचारा मनुष्य! दिन भर में उसे कितने वस्त्र बदलने पडते हैं, कितने अभिनय करने पडते हैं, और इस सबमें अगर उसकी निजता (Individuality) उसका स्वतादात्म्य (Identity) खो जाती हो तो आश्चर्य क्या है? मनुष्य स्व में रह ही नहीं पाता है.... वह स्वयं हो ही नहीं पाता है। प्रतिपल गिरगिट की भांति वह रंग बदलता है। क्योंकि हर स्थिति में, हर घटना में, हर व्यक्ति के साथ उसे भिन्न भिन्न वस्त्रों और अभिनयों में मिलना पडता है। उसके जीवन में एक ही साथ बहुत से नाटक जो अभिनीत हो रहे हैं। और वह अकेला ही सब नाटकों का प्रमुख पात्र है... हीरो है। जीवन के नाटक में ऐसा कोई नहीं है, जो प्रमुख पात्र नहीं है। जीवन के नाटक में तो बस हीरो ही हीरो हैं। और यह एक ही व्यक्ति का असंख्य नाटकों का केन्द्र होना बडी विक्षिप्तता (Insanity) ले आता है। उसे अपने नौकर से दूसरे वस्त्रों में मिलना होता है, मालिक से दूसरे वस्त्रों में। पत्नी से दूसरे वस्त्रों में और प्रेयसी से दूसरे वस्त्रों में। ऐसे चौबीस घंटे उसे वस्त्र बदलने पडते हैं... चेहरे बदलने पडते हैं और तब इस भांति स्वयं को बदलते बदलते वह यह भूल ही जाता है कि मेरा असली चेहरा क्या है? दूसरों को दिखाने में वह बहुत चेहरे बना लेता है। यह हम सब भली भांति जानते हैं क्योंकि हम स्वयं ही दिन भर चेहरे बनाते हैं। हम सब बहुत कुशल अभिनेता हैं। हमारी पूरी दुनिया एक नाटचगृह है। नाटकों में जो अभिनय कर रहे हैं, वे हमसे ज्यादा कुशल नहीं हैं। नाटक में अभिनय करना तो आसान है क्योंकि साधारणतः अभिनेता अभिनय से भिन्न ही बना रहता है। जीवन में तो अभिनय से अभिन्न ही हो जाना पडता है। इसीसे पागलपन पैदा होता है। यह अभिन्नता ही..

. . . यह आत्मैक्य और वह भी अनेक अभिनयों से एक ही साथ.. . विक्षिप्तता लाता है।

एक दिन सुबह ही सुबह बर्ट्रेंड रसल के पास एक व्यक्ति आया और बोला : महानुभाव, आप ऐसी ऐसी किताबें लिखते हैं जिनसे कि मैं बहुत परेशान हो गया हूं। पहली परेशानी की बात तो यही थी कि आपकी किताबों में आप क्या लिखते हैं, यह मेरी समझ में ही नहीं आता। लेकिन यह भी गनीमत थी। पर रात से तो आपने मुझे और भी कठिनाई में डाल दिया है। रात्रि आपका लिखा हुआ एक वाक्य पहली बार मेरी समझ में आ गया है। और उससे मैं बहुत ही उलझाव में पड गया हूं। क्योंकि वह वाक्य नितांत असत्य है। रसल तो बहुत हैरान हुआ और फिर उसने पूछा : "महाशय, वह कौनसा वाक्य है जो आपकी समझ में आ गया है और जो नितान्त गलत है ? क्या आप मुझे बताने की कृपा करेंगे ?" वह व्यक्ति बोला : आपने लिखा है :" सीजर मर चुका है (Ceaser is Dead)। यही एक वाक्य मेरी समझ में आया और दुख की बात है कि यह बिल्कुल ही गलत है।" रसल समझ गया कि यह आदमी या तो पागल है या किसी विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग का अध्यक्ष है, क्योंकि ऐसी खोजपूर्ण बातें या तो पागलों को सूझती हैं या प्रोफेसरों को। सीजर को मरे तो सदियां हो चुकी हैं और अब तक इस धारणा का किसी ने भी विरोध नहीं किया है। फिर भी रसेल ने उस व्यक्ति से पूछा : "क्या सीजर के जीवित होने का आपके पास कोई प्रमाण है ? वह व्यक्ति बोला : "प्रमाण ? प्रमाण मैं स्वयं हूं। क्योंकि मैं ही सीजर हूं !"

वह व्यक्ति एक अभिनेता था और सीजर का अभिनय करते करते पागल हो गया था। वह धीरे धीरे सीजर के अभिनय से अभिन्न ही हो गया था। यही था उसका पागलपन और यही है पागलपन आदमी का भी। हम भी अपने झूठे चेहरों और वस्त्रों और अभिनयों से अभिन्न हो जाते हैं। जिन चेहरों को हम ओढते हैं वे अंततः स्वयं के चेहरे प्रतीत होने लगते हैं। इस भांति जिन्हें दूसरों को धोखा देने के लिये ओढा था, उनसे स्वयं को ही धोखा हो जाता है, और इस आत्म वंचना से भरे हुये हम आत्मज्ञान चाहते हैं, तो यह एक असंभावना (Impossibility) है। आत्मवंचना में आत्म ज्ञान संभव ही कैसे है ? जिसे अपने चेहरे का ही बोध नहीं है, उसे अपनी आत्मा का बोध कैसे हो सकता है ? मित्रो, चेहरे उघाडो। मुखोटे अलग करो। अभिनय छोडो तो ही उसे जाना जा सकता है जो कि आत्मा है। दुर्भाग्य तो यही है कि हम सब अपने अपने अभिनय में सफल हो जाते

हैं, और यही सफलता अभिनय छोडने में बाधा बन जाती है। फिर तो अभिनय छोडना असफलता जैसा प्रतीत होने लगता है। लेकिन हमें जैसे ज्ञात ही नहीं है कि असत्य सफल कैसे हो सकता है... असत्य ही जब धोखा है तो उसकी सफलता भी धोखा ही हो सकती है... धोखे की नींव पर धोखे के भवन ही तो खडे हो सकते हैं? लेकिन चूंकि हमारे शेष पडौसियों के भवन भी धोखे के ही भवन हैं, इसलिये हमारा धोखे का भवन भी चिन्ता का कारण नहीं बनता है। जहां सभी लोग एक ही बीमारी से पीडित हों वहां तो उस बीमारी का पता चलना ही बंद हो जाता है। वहां तो जो स्वस्थ हो वही उल्टे बीमार मालूम पड सकता है। मैंने सुना है कि पहाडों में छिपा एक छोटा सा गांव था, जहां कि सभी लोग एकाक्षी थे... काने थे... एक ही आंख वाले थे, उस गांव में जब कोई बच्चा दो आंख का पैदा हो जाता था तो चिकित्सक उसकी एक आंख अलग कर देते थे। हम भी ऐसी बस्ती के निवासी हैं। हमारी बस्ती ही आत्मवंचकों की है। हजारों वर्षों से श्रम करके हमने ही इसका निर्माण किया है। झूठ के यहां भवन हैं, पाखंड के रास्ते हैं, आत्मवंचना के शिवालय हैं। इसलिये जब कभी हमारे बीच सत्य जन्मता है तो हम उसे गोली मार देते हैं। सत्य के लिये सनातन से ही हमारा यही स्वागत रहा है। इसलिये सत्य शूली पर और असत्य सिंहासन पर दिखाई देता है। लेकिन मैं कहता हूं कि सत्य के लिये सूली भी सिंहासन है और असत्य के लिये सिंहासन भी शूली है। क्योंकि सत्य के साथ सौन्दर्य है, सत्य के साथ शिवत्य है, सत्य के साथ आनन्द है, सत्य के साथ अमृत है। लेकिन सत्य के साथ यह व्यवहार परमात्मा का है। आदमी का व्यवहार तो उल्टा ही है। हम तो एक ही व्यवहार उसके साथ कर सकते हैं... जब वह जिन्दा हो तो हम उसे मार डालें और जब वह मर जाये तो हम उसकी पूजा करें। जिन्दा सत्य को इसलिये मार डालना जरुरी हो जाता है क्योंकि वह हम सबकी आलोचना बन जाता है। उसका होना ही... उसकी मौजूदगी ही हमारी निन्दा है। वह है तो हम असत्य हैं। वह है तो हम अंधकार हैं। वह है तो हम नहीं हैं। और तब हम क्रोध से भर जाते हैं और क्राइस्ट को शूली पर लटका देते हैं... सुकरात को जहर पिला देते हैं और गांधी को गोली मार देते हैं। मैं अभी अभी एक महा-नगरी में था। प्रश्नोत्तरों के लिये सभा थी। बहुत से प्रश्न पूछे गये थे, लेकिन उनमें एक बहुत अनूठा था। किसी ने एक कागजपर लिखकर पूछा था: "आप ऐसी बातें कह रहे हैं कि आपको गोली क्यों न मार दी जावे?" मैंने कहा: "ऐसी भूल मत करना। ऐसी भूल पहले भी और लोग कर चुके हैं। क्योंकि जिसको

भी तुम गोली मार देते हो, वह फिर मरता ही नहीं है। ऐसे वह अमर हो जाता है। और जिसको आज तुम गोली मारते हो, कल तुम्हीं फिर उसकी पूजा भी करोगे। गोली मारना पूजा करने का प्रारंभ है। क्योंकि गोली मारना सत्य की मौजूदगी की स्वीकृति है। "लेकिन जिसकी भी मौजूदगी हमारे वस्त्र छीनती है और हमारे अभिनय को वाष्पीभूत करती है उसे ही मिटा डालने के लिये हमारा मूढ चित्त आतुर हो उठता है। यह मूढता ही है। यह बुद्धिमत्ता नहीं है। क्योंकि बुद्धिमान तो उसे मिटाने को नहीं, वरन् स्वयं को ही आमूल परिवर्तित करने के लिये अभीप्सु हो उठता है। और स्वयं को बदलने के लिये स्वयं की नग्नस्थिति जाननी अत्यंत आवश्यक है। सत्य को पाने के लिये झूठ के वस्त्रों को छोडने की तैयारी आवश्यक है। सत्य के लिये असत्य को उसके समस्त आवरणों सहित जानने और विदा देने का साहस आवश्यक है। और सबसे बडा असत्य क्या है? सबसे बडा असत्य व्यक्तित्व का असत्य है। व्यक्ति जो नहीं है, वही वह दिखाई पडता है। और जो वह नहीं है, वैसा ही दिखाई पडने की सतत् उसकी चेष्टा है।

एक संन्यासी आये थे मेरे पास और कहते थे कि मैं जनता जनार्दन की सेवा करना चाहता हूं। मैंने उनसे कहा : पहली सेवा तो यह करें कि आप गैरिक वस्त्र छोड दें। क्योंकि, संन्यासी तो स्वामी है, वह सेवक कैसे हो सकता है? वह संन्यासी तो बहुत हैरान हुआ और कहने लगा : "मैं संन्यासी हूं। मैं ये वस्त्र कैसे छोड सकता हूं? ये तो संन्यासी के वस्त्र हैं।" मैं तो यह सुना हंसने लगा था और बोला था : "संन्यास का वस्त्रों से क्या सबंध? संसार का तो संबंध हो भी सकता है? लेकिन, संन्यास का वस्त्रों से क्या संबंध हो सकता है?" लेकिन वह संन्यासी जो घर, द्वार, परिवार, पत्नी और बच्चों को छोडने का साहस कर सका था, वह भी दो पैसे के रंग में रंगे वस्त्रों को छोडने का साहस नहीं कर सका। क्या वस्त्र इतने मूल्यवान हैं? नहीं.. वस्त्र तो मूल्यवान नहीं हैं। लेकिन वस्त्रों के बिना हम कुछ भी नहीं रह जाते हैं क्योंकि हम तो वस्त्र मात्र ही जो हैं। वस्त्रों के अतिरिक्त हमारे पास शायद और कुछ भी नहीं है। वस्त्र ही हमारा कुल जमा व्यक्तित्व है। मैं संन्यासी हूं, मैं सम्राट हूं.... क्योंकि मेरे वस्त्र संन्यासीके हैं, क्योंकि मेरे वस्त्र सम्राट के हैं! और वस्त्र नहीं तो मैं क्या हूं? वस्त्र हैं तो कुछ हूं (Somebody)। वस्त्र नहीं तो न कुछ हूं (Nobody) और न कुछ होने से मनुष्य डरता है इसलिये वस्त्र छोडने से डरता है! लेकिन स्मरण रहे कि जिस होने के पीछे सदा ही न होना छिपा है, वह होना असत्य है.. वह होना मिथ्या है। इस मिथ्या के

आरपार देखना है। इस मिथ्या अस्तित्व (False Being) के मिथ्यात्व (Falsity) को जानना है क्योंकि तभी और केवल तभी वह जो प्रमाणिक (Authentic) है वह जो हमारी सत्यात्मा (Being) है, उसे जाना और जिया जा सकता है।

इसलिये पहली जरुरत है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर खोजे कि मैंने असत्य को तो जन्म नहीं दिया है? अपने व्यक्तित्व को मैंने असत्य की पर्तों से तो नहीं ढाला है? असत्य का आधार ही तो मेरे जीवन का आधार नहीं है। इसे देखना, इसे बहुत खुली आंखों से जानना जरुरी है। और बडी पीडा होगी इस बात को जानकर कि मैं क्या हूं? लेकिन उस पीडा से गुजरना आवश्यक है। क्या हूं मैं? कैसा पशु हूं? कैसा नग्न हूं? कैसी वृत्तियों से भरा हूं? कैसी घृणा से, कैसी हिन्सा से? लेकिन हमने तो स्वयं पर ऐसे पर्दे डाल रखे हैं कि कुछ भी पहचानना कठिन हो गया है। एक आदमी भीतर तो गहरी हिन्सा से भरा होता है लेकिन पानी छानके पी लेता है या रात्रि भोजन छोड दिया है और मान लेता है कि मैं अहिन्सक हो गया हूं। आह! मनुष्य भी कैसे सस्ते नुस्खे खोजता है और फिर उन्हीं से संतुष्ट भी हो जाता है। क्या अहिन्सा इतनी सस्ती है? क्या धर्म इतना सस्ता है? काश! ऐसा तो पृथ्वी कभी की अहिन्सक हो गई होती! लेकिन नहीं यह धर्म नहीं, धोखा है... यह अहिन्सा नहीं, बस केवल हिन्सा पर पर्दे डाल देना है। भीतर हिन्सा उबलती ही रहती है.... उफनती ही रहती है... वह छने पानी पीने या रात्रि भोजन त्यागने या मांसाहार छोडने से भी समाप्त नहीं होती है। वह समाप्त हो तो मांसाहार छूट सकता है लेकिन मांसाहार छूटने से वह समाप्त नहीं होती है। लेकिन ऐसे बिना अहिन्सक हुये अहिन्सक होने का दंभ जरुर पूरा हो जाता है और दूसरों को हिन्सक मान नर्काग्नि में सडाने और जलाने की हिन्सक वृत्ति को भी तृप्ति मिल जाती है। अहिन्सक शास्त्रों में भी नर्क के ऐसे रसपूर्ण वर्णन हैं कि उनके भीतर प्रज्जवलित हिन्सा के लिये किसी और गवाही की कोई जरुरत नहीं रह जाती है। और फिर ऐसे ही अहिन्सक अहिन्सा की रक्षा के लिये कभी हिन्सा करने को तत्पर हो उठते हों तो आश्चर्य नहीं है। और ऐसे ही हमारे शेष सद्गुण भी हैं। ऐसे ही झूठे, सस्ते और ऊपरी। हमारी सारी संस्कृति ही ऐसे झूठों पर खडी है। हम सबका दावा है प्रेम का। हम सभी प्रेम करते हैं.... लेकिन यह कोई भी नहीं अनुभव करता है कि उसे प्रेम मिलता है! जब सभी प्रेम करते हैं तो फिर सभी को प्रेम मिलता क्यों नहीं है? यह इतना सारा प्रेम आखिर चला कहां जाता है? और इतने प्रेम करनेवाले लोगों

के बावजूद भी जगत् में प्रेम का कहीं चिन्ह भी क्यों दिखाई नहीं पडता है? घृणा दिखती है, द्वेष दिखता है, क्रोध दिखता है, हिन्सा दिखती है... युद्ध दिखते हैं, लेकिन प्रेम कहीं भी नहीं दिखाई पडता है? शायद हम प्रेम की बातें भर करते हैं और प्रेम का हमें कोई पता ही नहीं है। शरीर आलिंगन करते हैं लेकिन प्रेम के झरने अनबहे ही रह जाते हैं। ओंठ प्रेम के गीत गाते हैं लेकिन हृदय की वीणा अस्पर्शित ही रह जाती है। पिता कहता है: मैं बेटे को प्रेम करता हूं। बेटे भी यही कहते हैं। मां भी यही कहती है। बेटी भी यही कहती है। पत्नी भी यही कहती है। पति भी कहता है। सभी यही कहते हैं, लेकिन प्रेम की सुगन्ध किसी से भी उठती हुई नहीं मालूम पडती है। और कोई पति है, कोई पिता है, कोई पत्नी है, कोई माता है सभी कोई न कोई हैं और सभी प्रेम करते हैं तो जब पृथ्वी पर सारे लोग ही प्रेम करते हैं तो घृणा कहां से आती है? यदि इन सबका दावा सत्य है तो फिर अप्रेम कहां से आता है? अगर बाप प्रेम करता है, मां प्रेम करती है, बेटा प्रेम करता है, पत्नी प्रेम करती है, पति प्रेम करता है तो फिर और आदमी तो बचते ही नहीं हैं? फिर अप्रेम कौन करता है? फिर घृणा कौन लाता है? फिर हिन्सा कौन लाता है? फिर युद्ध कौन जन्माता है? क्या इन सबकी उपस्थिति प्रेम को सत्य सिद्ध नहीं कर देती है? नहीं.... हम प्रेम करते ही नहीं हैं। हम तो केवल प्रेम की बातें ही करते हैं! प्रेम की पताका है और घृणा के मंदिर हैं। फूलों का प्रचार है और कांटों का व्यवसाय है। इसलिये ही तो प्रेम भी चलता है और युद्ध भी चलते हैं। सूर्योदय भी है और अर्धरात्रि भी है! जीवन भी है और कब्र में निवास भी है। सत्य की ओर जानेवाले को ये सारी नकाबें उतारकर एक तरफ रख देनी हैं। उनमें आग लगा देनी हैं ताकि केवल वही शेष बच रहे जो कि खालिश सोना है। प्रेम के मार्ग में, झूठे प्रेम के अतिरिक्त और कोई रुकावट नहीं है। अहिन्सा के मार्ग पर झूठी अहिन्सा के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। सत्य के मार्ग पर झूठे सत्यों के अतिरिक्त और कोई शत्रु नहीं है। असत्य सत्य को नहीं रोक सकता है... लेकिन झूठा सत्य, सत्य को रोक लेता है! अंधकार प्रकाश के मार्ग में बाधा नहीं है... वह तो केवल प्रकाश का अभाव है लेकिन झूठा प्रकाश जरुर बाधा है और बडी बाधा है। क्योंकि उसके कारण सच्चे प्रकाश की खोज की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है!

इसलिये अपनी अहिन्सा को खोदकर देखो... अपने प्रेम को उघाडकर देखो और अपने धर्म को भी। ताकि यदि वे असत्य हों तो उनका असत्य

दिखाई पड सके। क्योंकि, उनके दिखाई पडते ही जो सत्य है उसकी असत्य खोज प्रारंभ हो जाती है। वस्तुतः तो असत्य का असत्य दिखाई पड जाना सत्य का जन्म ही है। वह सत्य का प्रारंभ है। वह सत्य के बीज का अंकुरित हो जाना है।

मैं आपसे कहता हूं कि हमारा प्रेम झूठा है, हमारा परिवार झूठा है, हमारा समाज झूठा है और जब तक हम इन गहरे लेकिन प्राचीन असत्यों को उघाड़कर नहीं देखेंगे तबतक पृथ्वी पर एक नयी मनुष्यता का सच्ची मनुष्यता का जन्म नहीं हो सकता है। जीवन के असत्यों का दर्शन, सत्य की पहली किरण का जन्म बनता है। और जहां प्रकाश की एक भी किरण है, वहां से सूर्य तक की यात्रा भी हो सकती है।

क्या मनुष्य एक यंत्र है ?

: प्रश्नोत्तर :

संकलन : श्री. सौभाग्यचन्द्र तुरखिया

मनुष्य एक यंत्र है। लेकिन इसका हमें कोई स्मरण नहीं है। मनुष्य का जीवन जागृत जीवन नहीं है। बल्कि सोया हुआ जीवन है। इसका भी हमें कोई बोध नहीं है। इस संबध में कुछ प्रश्न पूछे गये हैं। उनकी मैं पहले चर्चा करुंगा। फिर कुछ दूसरे प्रश्न भी हैं।

यह पूछा गया है कि मैं मनुष्य को यंत्र क्यों कह रहा हूं ?

एक छोटी सी कहानी से मैं आपको यह समझाना चाहूंगा।

एक सुबह एक गांव में बुद्ध का आगमन हुआ था। उन्होंने उस गांव के लोगों को समझाना शुरु किया। सामने ही बैठकर एक व्यक्ति अपना पैर का अगूंठा हिलाये जा रहा था। बुद्ध ने बोलना बंद करके उस व्यक्ति को कहा : "मेरे मित्र ! तुम्हारे पैर का अंगूठा क्यों हिलता है ?" जैसे ही बुद्ध ने यह कहा कि तुम्हारा पैर क्यों हिलता है कि उसका पैर का हिलना बंद हो गया। उस व्यक्ति ने कहा कि जहां तक मेरा सवाल है, मुझे इसका स्मरण भी नहीं था कि मेरा पैर हिल रहा है। आपने कहा तब ही मुझे स्मरण आया और मेरा पैर रुक गया। मुझे ख्याल भी नहीं था, बोध भी नहीं था कि मेरा पैर हिल रहा है। बुद्ध ने कहा : "तुम्हारा पैर है और हिलता है और तुम्हें पता भी नहीं ? तो तुम आदमी हो या यंत्र ?"

यंत्र हम उसे कहते हैं जिसे अपनी गति का कोई बोध नहीं है। उसमें गति हो रही है लेकिन उसे पता नहीं है। उसे कोई होश नहीं है, उस गति का।

मनुष्य को मैंने यंत्र कहा इसलिये कि जो कुछ हममें हो रहा है, न तो हमें उसका पता है कि वह हो रहा है या क्या हो रहा है या क्यों हो रहा है, और न ही हम उसके मालिक हैं, कि हम चाहें तो वह हो और न चाहें तो वह न हो। कोई भी यंत्र अपना मालिक नहीं होता। आदमी भी अपना मालिक नहीं है। इसलिये मैंने उसे यंत्र कहा। आपके भीतर जब भय (fear) पैदा हो जाता है तब आप उसे पैदा करते हैं ? क्या आप उसके मालिक होते हैं ? या कि आप चाहें तो उसे पैदा न होने देंगे ? या जब आप चाहें तो उसे पैदा कर लेंगे ? कुछ भी आपके हाथ में नहीं है। कितनी बार हमें ऐसा मौका आता है जब हम कहते हैं : मेरे बावजूद यह हो गया (In spite of me) कितनी बार हम कहते हैं कि मैं तो नहीं चाहता था फिर भी यह हो गया ।अगर आप ही नहीं चाहते थे और आपके भीतर कुछ हो जाता है तो इसका क्या अर्थ हुआ ? आप अपने मालिक नहीं हैं। कोई यंत्र अपना मालिक नहीं है। लेकिन मनुष्य तो अपना मालिक होगा। उसके जीवन में, उसके विचार में, उसके भाव में, वह अपना स्वामी होगा, उसका स्वयं पर स्वयं का अधिकार होगा। और यह स्वामित्व, यह मालिकयत, तभी उपलब्ध हो सकती है जब उसे अपनी जीवन की सारी क्रियाओं का बोध हो, उनके प्रति जागरुकता (Awareness) हो। वह उन्हें जानता हो, पहचानता हो। लेकिन न तो हम उन्हें पहचानते हैं, न तो हम उनके मालिक हैं।

एक महिला ने एक फकीर के पास अपने बच्चे को ले जाकर कहा कि मेरा यह बच्चा रोज रोज बिगडता जाता है। इसने सारी शिष्टता छोड दी है और इसने परिवार के सारे नियम तोड दिये हैं। इसे आप थोडा भयभीत कर दें, डरा दें। शायद यह ठीक हो जाय। उस फकीर ने इतनी बात सुनी और जोर से आंखें निकालीं, हाथ पैर हिलाये और वह कूदकर उस बच्चे के सामने खडा हो गया जैसे उसकी जान ही ले लेगा। वह बच्चा तो इतना घबडा गया कि भागा। लेकिन फकीर तो कूदता ही गया और इतनी जोर से चिल्लाया कि बच्चा तो भाग गया लेकिन उसकी मां बेहोश होकर गिर पडी। जब वह स्त्री बेहोश होकर गिर पडी तो वह फकीर भी वहां से भाग निकला। थोडी देर बाद जब स्त्री को होश आया तो वह बैठकर फकीर की प्रतीक्षा करने लगी। थोडी देर के बाद वह फकीर भीतर लौटा। उस स्त्री ने कहा : आपने तो हद करदी। मैंने तो बच्चे को डराने को कहा था, मुझे डराने को तो नहीं। वह फकीर बोला : कि तूने बच्चे को डराने को कहा था लेकिन बच्चे को मैंने डराया तब मुझे ख्याल भी न था कि तू भी डर जायेगी। तू क्यों डर गई ? और

जब तू डर गई और बेहोश हो गई तो मुझे पता भी नहीं था कि मैं भी डर जाऊंगा। तुझे बेहोश देखकर मैं भी डर गया और भाग गया। जब भय ने पकडा तो उसने बच्चे को ही नहीं पकडा, तुझे भी पकड लिया और मुझे भी। उस फकीर ने कहा : सचाई यह है कि मुझमें भी चीजें घटित होती हैं, मैं भी उनका मालिक नहीं हूं। तू भी उनकी मालिक नहीं है, बच्चा भी उनका मालिक नहीं है। भय ने पकड लिया तो उस पर हमारी कोई मालिकयत न रही। तू भी भयभीत हो गई तो मुझे भी ख्याल न रहा कि यह क्या हो रहा है। मैं भी घबडा गया था और भयभीत होकर भाग गया। मैं बेवश था, लेकिन फिर भी क्षमा मांगता हूं।

जीवन में हमारे भय, क्रोध, घृणा, हिन्सा, प्रेम ये सब घटित हो रहे हैं। उनपर हमारा कोई काबू नहीं है। उनके ऊपर काबू होना तो दूर हमें उनका कोई होश भी नहीं है कि क्या हो रहा है। इसलिये मैंने कहा कि मनुष्य एक यंत्र है। लेकिन यह इसलिये नहीं कहा कि मनुष्य एक यंत्र है तो बात समाप्त हो जाये। यहां बात समाप्त नहीं होती। यहां बात शुरु होती है। मनुष्य यंत्र है यह इसीलिये तो कह रहा हूं आपसे कि आपके भीतर यंत्र से ऊपर उठने की भी संभावना है। किसी यंत्र से जाकर तो नहीं कहता हूं कि तुम यंत्र हो। मनुष्य से यह कहा जा सकता है कि तुम यंत्र हो। क्योंकि मनुष्य यदि सत्य को समझ ले तो वह यंत्र होने के ऊपर भी उठ सकता है। मनुष्य के भीतर यह संभावना है कि वह एक सचेतन आत्मा और व्यक्तित्व बन जाय। लेकिन यह एक संभावना है, एक सच्चाई नहीं। यह हो सकता है लेकिन ऐसा है नहीं। एक बीज की भांति ही यह संभावना मात्र है। उससे वृक्ष हो भी सकता है, और नहीं भी। बीज को जानना चाहिये कि मैं बीज हूं और वृक्ष नहीं हूं। इस बात को जानने के साथ ही उस संभावना के द्वार भी खुल सकते हैं कि वह वृक्ष हो जाये। मनुष्य एक बीज है चेतना के लिये, परन्तु अभी वह चेतना नहीं है। अभी तो यंत्र है। और अगर वह इस यांत्रिक स्थिति को ठीक से समझ ले, यह जड परिस्थिति उसे पूरी पूरी स्पष्ट हो जाये तो स्पष्ट होने के साथ साथ उसके भीतर कोई शक्ति जागने लगेगी, जो उसे मनुष्य बना सकती है। मनुष्य मनुष्य की भांति पैदा नहीं होता, एक बीज की भांति ही पैदा होता है। उसके भीतर मनुष्य का जन्म हो सकता है, लेकिन कोई भी मनुष्य, मनुष्य की भांति जन्मता नहीं है। और अधिक लोग इस भूल में पड जाते हैं कि वे मनुष्य हैं। और यही भूल उनके जीवन को नष्ट कर देती है। जन्म के साथ हम एक संभावना (Potentiality) एक बीज की तरह

पैदा होते हैं। लेकिन हम उसीसे समझ लेते हैं कि हमारा होना समाप्त हो गया। तो हम वहीं ठहर जाते हैं। बहुत कम लोग हैं, जो जन्म के ऊपर उठते हों और जन्म का अतिक्रमण करते हों। हम जन्म पर ही रुक जाते हैं। जन्म के बाद फिर कोई विकास नहीं होता। हां, यंत्र की कुशलता बढ जाती है, लेकिन यांत्रिकता के ऊपर उठने का कोई चरण, कोई कदम नहीं उठाया जाता और वह कदम उठाया भी नहीं जा सकता, जबतक हमें यह ख्याल ही न पैदा हो कि हम क्या हैं? मनुष्य यदि यह अनुभव करले कि वह एक यंत्र है तो वह मार्ग स्पष्ट हो सकता है, जिसकी यात्रा करने के बाद वह यंत्र न रह जाय। लेकिन हमारे अहंकार को इस बात से बडी चोट पहुंचती है कि हमसे कोई कहे कि हम एक यंत्र हैं! मनुष्य के अहंकार को इससे बडी चोट लगती है कि उससे कोई कहे कि तुम एक मशीन हो और उसे इस बात के सुनने में बडा मजा आता है कि तुम एक परमात्मा हो! अरे तुम तो ब्रह्म हो! शरीर नहीं, तुम तो आत्मा हो! तुम्हारे भीतर भगवान वास कर रहा है। इसलिये वह मंदिरों में और मस्जिदों में इकट्ठा होता है और उन लोगों के पैर पडता है जो उसे समझाते हैं कि तुम तो स्वयं भगवान हो! उसे यह बात सुनकर बडा आनन्द मालूम होता है। उसे कौन कहे कि तुम एक मशीन हो, क्योंकि ऐसा कहने से बडी चोट लगती है। लेकिन उससे कहें कि तुम तो स्वयं भगवान हो तो उसे बहुत आनन्द मिलता है। ऐसे उसके अहंकार की तृप्ति होती है, उसके अहंकार (Ego) को बडा सहारा मिलता है कि मैं भगवान हूं। लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूं और इस सत्य को बहुत ठीक से समझ लेना जरुरी है कि जैसे हम हैं वैसे भगवान होना तो बहुत दूर, हम मनुष्य भी नहीं हैं। हम बिल्कुल मशीनों की भांति हैं। हमारा सारा जीवन इस बात की कथा है, हमारे पूरे पांच छ: हजार वर्ष का इतिहास इस बात की कथा है कि हम मशीन की भांति जी रहे हैं। जो मैंने कल की थी वही भूल मैं आज भी कर रहा हूं। जो भूल मैंने दस साल पहले की थी वही भूल मैं दस साल बाद भी करुंगा। अगर एक आदमी आपके दरवाजे से निकलता हो और रोज एक ही गड्ढे में आकर गिर जाता हो तो एक दिन आप क्षमा कर देंगे कि भूल हो गई। दूसरे दिन वह आदमी फिर आये और उसी गड्ढे में गिर जाये तो शायद आपको भी संकोच होगा, यह कहने में कि भूल हो रही है। लेकिन यदि तीसरे दिन भी उसी गड्ढे में गिर जाये, चौथे दिन भी और वर्ष वर्ष बीतते जायें और रोज उसी गड्ढे में आकर गिरता जाये तो आप क्या कहेंगे? आप कहेंगे कि यह आदमी नहीं मालूम होता है यह तो कोई

मशीन मालूम होती है। जो ठीक उसी गड्ढे में रोज गिर जाती है और उसी गड्ढे में उसी भूल से रोज गुजरती है, और फिर भी उसके जीवन में कोई क्रांति नहीं होती, कोई परिवर्तन नहीं होता? यह यांत्रिकता (Mechanicalness) तो हो सकती है, लेकिन मनुष्यता कैसे हो सकती है?

जिस क्रोध को हमने हजार बार किया है और हजार बार दुखी हुये हैं और पछताये हैं वह आज भी हम कर रहे हैं। भूल वही है और हम रोज उसे दोहरा रहे हैं। जिस घृणा से हम पीडित हुये हैं उसे बार बार किया है और अब भी कर रहे हैं। जिस अहंकार ने हमें जलाया है, जिसने हमें चोट पहुंचाई है उसको हम आज भी पकडे हुये हैं। आदमी नयी नयी भूलें थोडे ही करता है। और न ही आदमी रोज नई भूलें ईजाद ही करता है। बस थोडी सी वे ही भूलें हैं जिन्हें रोज दुहराता है। रोज पछताता है, रोज निर्णय करता है कि नहीं अब यह नहीं करुंगा। लेकिन अगर उसके हाथ में होता करना या न करना तो बहुत पहले उन्हें करना बंद कर दिया होता! फिर उसे ही करता है, फिर पछताता है। कोई फर्क उसके जीवन में होता नहीं। क्या बताती है यह बात? बताती है कि मनुष्य एक यंत्र है। अहंकार को इससे चोट लगती है। चोट लगेगी भी, क्योंकि जिसका अहंकार नहीं टूटता वह कभी यंत्र होने के ऊपर नहीं उठ सकता! अहंकार को टूटने दें। उसका टूटना और मिटना बहुत शुभ है। यांत्रिकता की मृत्यु में वह एक अनिवार्य चरण है। और यदि अगर आप सोचेंगे, खोजेंगे, निरीक्षण करेंगे और थोडा अपने जीवन पर विचार करेंगे तो आपको कठिनाई नहीं होगी इस बात को तय करने में कि आपने जो व्यवहार किया है, वह एक मशीन का व्यवहार है, एक मनुष्य का नहीं। और अगर यह स्पष्ट हो जाये कि मैं एक मशीन की भांति जी रहा हूं, तो जिसे यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि मैं एक मशीन हूं, उसके जीवन में क्रांति की शुरुआत हो जायेगी। किसी बीमारी को ठीक से पहचान लेना उससे आधा मुक्त हो जाना है। किसी बीमारी का ठीक ठीक निदान आधा इलाज है। अगर यह समझ में आ जाये कि मैं एक यंत्र हूं तो हमारे बहुत से भ्रम टूट जायेंगे। हमारा बहुत सा अभिमान टूट जायेगा और शायद इस अहसास के बाद हमारे भीतर किसी क्रांति की शुरुआत हो सके।

मनुष्य परमात्मा हो सकता है लेकिन है तो मशीन। बीज वृक्ष हो सकता है लेकिन कभी वह वृक्ष नहीं है। और जो बीज बीज रहते ही समझ लेगा कि मैं वृक्ष हो गया, तो उसकी वृक्ष तक की यात्रा असंभव हो जायेगी क्योंकि फिर वह उसी भ्रांति में जीने लगेगा। जिसे तोड़ना था उसे, जिस भ्रम को उसे मिटाना

था, वह उस भ्रम को ही और स्थायी करने लगा। इसलिये मैंने कहा कि मनुष्य एक मशीन है। लेकिन मनुष्य मशीन होने को पैदा नहीं हुआ है। मशीन होने से ही वह दुखी, परेशान और चिन्तित है। मशीन होने के कारण ही उसके जीवन में अंधकार है। जीवन में पीडा और चिन्ता और अशान्ति है। और वह मशीन न रह जाये तो शांति और सत्य और सौन्दर्य का जन्म हो सकता है। वह मशीन रह जाये तभी उसे स्वरूप का बोध हो सकता है और अनुभव हो सकता है कि मैं कौन हूं? और अभी तो वह कितना ही खोजे, और कितने ही शास्त्र पढे और कितने ही सिद्धांन्त सीख ले कि मैं कौन हूं और दोहराने लगे कि मैं आत्मा हूं, मैं परमात्मा हूं, तो भी कुछ नहीं हो सकता है। उसका यह दोहराना भी बिल्कुल झूठा होगा और यांत्रिक होगा। ऐसे लोगों को हम सब जानते हैं जो कि सुबह से बैठकर दोहराते हैं कि मैं आत्मा हूं, मैं परमात्मा हूं, मैं ब्रम्ह हूं, अहं ब्रम्हास्मि.....और वे दोहराते चले जाते हैं, वर्षो तक। लेकिन उनके जीवन में कोई परिवर्तन पैदा नहीं होता है। हो भी नहीं सकता। क्योंकि यदि यह पता चल जाये कि मैं ईश्वर हूं तो दोहराने की कोई जरूरत नहीं है। जिसे पता नहीं है कि मैं ईश्वर हूं वही दोहराता है। अगर आप पुरुष है तो रोज सुबह उठकर दोहराते नहीं है कि मैं पुरुष हूं, पुरुष हूं। अगर आप स्त्री है तो रोज सुबह उठकर आप दोहराती नहीं कि मैं स्त्री हूं, स्त्री हूं। लेकिन अगर कोई पुरुष सुबह उठकर दोहराने लगे कि मैं पुरुष हूं, मैं पुरुष हूं तो आपको शक हो जायेगा कि वह पुरुष है या नहीं? उसका दोहराना इस बात की सूचना होगी कि जो भी वह दुहरा रहा है उस संबंध में वह स्वयं ही संदिग्ध है. और दोहरा दोहरा कर अपने मन को वह असंदिग्ध बना लेना चाहता है. जो आदमी यह दोहराता है कि मैं आत्मा हूं, मैं ईश्वर हूं, परमात्मा हूं..... वह ऐसी निपट झूठी बाते दोहरा रहा है जिसका कि उसे कोई भी पता नहीं है। अगर उसे पता हो जाये तो दोहराने की कोई जरुरत नहीं रह जाती। और इस दोहराने से हमारी यांत्रिकता टूटती नहीं बल्कि और अधिक मजबूत होती है और गहरी होती है, क्योंकि हमें यह ख्याल ही मिट जाता है कि वस्तुतः हम क्या हैं?

एक जादूगर ने भोजन के लिये बहुत सी भेडें पाल रखी थीं। उस जादूगर ने उन भेडों को बेहोश करके, सम्मोहित करके, हिपनोटाईज करके यह कह दिया था कि तुम भेडें नहीं हो। इससे पहले, भेडें हमेशा भयभीत रहा करती थीं कि उनको खिलाया जायेगा, पिलाया जायेगा और फिर अंततः काट दिया

जायेगा। उस जादूगरने उन्हें बेहोश करके कहदिया कि तुस भेड हो ही नहीं। तुम तो सिंह (Lion) हो, भेडें नहीं। उनके चित्त में यह बात बैठ गई, उस दिन से वे अकडकर जीने लग गई। उस दिन से उनने यह बात भुला दी कि उन्हें काटने के लिये पाला जा रहा है। और जब उनमें से एक भेड काट दी जाती थी तब बाकी रह गई भेडें सोचती थीं कि वह तो भेड थी हम तो सिंह है। सब सोचती कि मैं नहीं काटी जानेवाली हूं। रोज भेडें कम होती जाती थीं लेकिन हर भेड यही सोचती थी कि दूसरी तो भेड थी, इसलिये काटी गई और मैं? मैं तो सिंह हूं, मैं काटी जानेवाली नहीं हूं। उस जादूगर के घर उसका एक मित्र मेहमान हुआ तो उसने पूछा कि हम भी भेडें पालते हैं, हम भी उनको काटते हैं और उनके मांस को बेचते हैं। लेकिन हमारी भेडें तो बड़ी भयभीत रहती है। और बड़ी परेशान भी रहती हैं। तुम्हारी भेडें तो बडी शान से घूमती हैं। तो आखिर बात क्या है? उस जादूगर ने कहा मैंने एक तरकीब काम में लाई है। उनको बेहोश करके मैंने कह दिया है कि तुम भेड नहीं हो। इसलिये वे मौज में घूमती रहती है। और उनको भागने का, भयभीत होने का अब मुझे कोई डर नहीं हैं और जब एक भेड कटती है तो बाकी भेडें सोचती है कि वह भेड थी, मैं तो भेड नहीं हूं।

मनुष्य जाति के साथ भी मामला कुछ ऐसा ही है। हर आदमी को यह ख्याल है कि मैं तो कुछ और हूं! तो जब मैं आपसे यह कह रहा हूं कि मनुष्य एक यंत्र है तो मैं भलीभांति जानता हूं कि आप अपने पडौसी का विचार करके सोच रहे होंगे कि बात तो इस आदमी के बाबत बिल्कुल ठीक है। रही मेरी बात, तो मैं तो मशीन कहां हूं? मैं तो अपवाद (Exception) हूं। बाकी लोगों के संबंध में यह बात बिल्कुल ठीक है! जगह जगह लोग मेरे पास आते हैं और कहते हैं कि आप बात तो बिल्कुल ठीक ही कह रहे हैं। लोग बिल्कुल ही यंत्र हैं। लेकिन मैं उनसे पूछता हूं सब आदमियों के बारे में सवाल नहीं हैं, सवाल है यह कि यह आपके बारे में सही है या नहीं? और तब मैं पाता हूं कि वे पशोपेश में पड जाते हैं। उनकी यह कहने की हिम्मत ही नहीं होती कि यह बात, मेरे संबंध में भी सही है। तो जो बात मैं कह रहा हूं वह आपके पडौसियों के लिये नहीं कह रहा हूं। वह आपके ही संबंध में कह रहा हूं। आपके पास जो बैठे हैं उनकी तरफ देखने की कोई जरूरत नहीं है। अगर आपने उनकी तरफ देखा तो मेरी बात फिजूल चली जायेगी। उसका कोई मतलब नहीं होगा। आप अपनी तरफ देखें और सोचें, अगर आपको यह दिखाई पड जाये

कि यह बात आपके संबंध में ही सही है, तो आप दूसरे आदमी हो जायेंगे। इस बात के एहसास के साथ ही आपमें परिवर्तन होना शुरू हो जायेगा। क्योंकि यह एहसास ही इस बात की घोषणा है कि अब आप मशीन नहीं रहे। कौन दे रहा है इस बात की स्वीकृति? कौन इस बात को एहसास कर रहा है? जो चेतना इस बात को एहसास कर रही है कि मेरा जीवन एक यंत्र है, वह स्वयं यंत्र नहीं हो सकती। इस बात की स्वीकृति से ही कहीं आपके भीतर चेतना (Consciousness) का जन्म शुरू होता है। इसलिये मैंने यह जोर दिया कि हमें जानना, खोजना और पहचानना चाहिये और उस आदमी को मैं धार्मिक कहूँगा जिसने यह अनुभव किया कि उसका जीवन एक यंत्र है। उस आदमी को मैं धार्मिक नहीं कहता जो रोज सुबह उठकर माला फेर लेता है, जो रोज सुबह मंदिर हो आता है। वह तो यंत्र की भांति ही काम करता है। उसमें और यंत्र में कोई भी फर्क नहीं है। रोज माला फेरता है, वर्षों तक फेरता रहता है। ठीक मशीन की भांति ही वह रोज एक काम पूरा कर लेता है। रोज मंदिर में हो आता है, रोज किताब भी पढ लेता है, एक ही किताब को वह वर्षों तक पढता रहता है और दोहराता रहता है, बिल्कुल मशीन की भांति। उससे उसके जीवन में कोई अंतर नहीं आता, कोई क्रांति नहीं होती, कोई परिवर्तन नहीं आता, कोई बदलाहट नहीं होती। हो भी नहीं सकती। यह क्रांति हो सकती थी, यदि वह अनुभव करता कि अभी वह आदमी नहीं है। आदमी के बहुत नीचे के तल पर जी रहा है, मशीन के तल पर जी रहा है। ऐसा बोध, ऐसी प्रतीति स्वयं की यांत्रिकता के अतिक्रमण का पहला सूत्र है।

एक मित्र ने पूछा है कि अगर हममें यह ख्याल हो जाये कि हम बिल्कुल एक मशीन है तब तो हमारे जीवन में निराशा छा जायेगी। फिर तो हम निराश हो जायेंगे कि अब तो कुछ भी नहीं हो सकता। ऐसा लगेगा कि अगर हम एक मशीन हैं तो फिर हमसे कुछ भी नहीं हो सकता। लेकिन अभी आप मात्र बौद्धिक रूप से विचार कर रहे हैं। अगर आपको यह अहसास हो जाये कि मैं एक मशीन हूं तो इतना कुछ हो सकता है जिसका कुछ हिसाब नहीं है। यह बात कि फिर कुछ नहीं हो सकता एकदम ही गलत है। सच तो यह है कि जबतक इस बात का अहसास न हो कि मैं एक मशीन हूं, तब तक कुछ भी नहीं हो सकता। तब तक आप जो कुछ भी करेंगे वह सब व्यर्थ होगा। वह नींद में किया होगा, जागकर नहीं। जिस चेतना को यह अनुभव होता है, यह बोध होता है कि मैं एक मशीन हूं तो वह चेतना मशीन से बाहर हो जाती है, अलग

हो जाती है, भिन्न हो जाती है।

किसी भी चीज को जानते ही हम उससे दूर हो जाते हैं। अगर मैं आपको देख रहा हूं कि आप वहां हैं तो मैं आपसे अलग हो गया। क्योंकि देखनेवाला उससे अलग हो जाता है जिसे वह देखता है। दोनों के बीच फासला हो जाता है। अगर मैं अपने इस हाथ को देख रहा हूं तो मैं इस हाथ से अलग हो गया। वह देखनेवाला, देखे गये हाथ से अलग हो जाता है।

मेरे एक मित्र बीमार पडे थे। वे सीढियों पर से गिर पडे थे और उनके पैरों में बडी चोट आ गई थी। बहुत असह्य पीडा थी उन्हें। मैं उन्हें देखने गया। उन्होंने मुझसे कहा कि इस पीडा से तो बेहतर होता कि मैं मर ही जाता। असह्य पीडा है। बहुत दुख होता है और डाक्टर का कहना है कि कोई तीन महीने इस बिस्तर पर ही बंधे रहना होगा। और यह तो और भी दुखद है। क्या मेरे मरने की कोई तरकीब नहीं खोजी जा सकती ? क्या मैं मर नहीं सकता हूं ? मैंने उनसे कहा इसके पहले कि आप मरें, क्या आपको भरोसा है कि आप जिन्दा हैं ? क्योंकि मर वही सकता है जो जिन्दा हो। मुझे तो शक है कि आप जिन्दा भी हैं ? और शक इसलिये है क्योंकि क्या आपको उस जीवन का पता है जो आपके भीतर है ? अगर आपको उस जीवन का पता ही नहीं तो मैं आपको जिन्दा कैसे कहूं ? मैंने कहा कि अभी मरने की योजना छोडिये, अभी आपको यह भी पता नहीं कि आप जिन्दा हैं। जिन्दा आदमी मर सकता है, लेकिन आप जिन्दा कहां हैं। और मैंने उनसे कहा कि आप घबडाइये मत इतने, एक छोटा सा प्रयोग कीजिये। मैं यहां बैठा हूं आपके पास, आप आंखें बंद कर लीजिये। और उस दर्द, उस पीडा को देखने की कोशिश कीजिये कि वह कहां है और क्या है जो आपको अहसास हो रही है। आपको किस जगह शरीर में पीडा मालूम हो रही है। वे मुझसे बोले की मेरे पूरे पैर में तकलीफ है। मैंने कहा आप आंख बंद करिये और ठीक से खोजिये.. उस बिन्दु पर ध्यान ले जाइये जहां आपको तकलीफ हो रही है। उन्होंने आंखें बंद कीं और कोई पंद्रह मिनिट बाद आंखें खोलीं और मुझसे बोले कि यह तो हैरानी की बात है। जैसे जैसे में खोजने लगा, पीडा सिकुडती गई, छोटी होती गई। पहले मुझे लग रहा था कि पूरे पैर में दर्द है लेकिन जैसे मैंने खोज की तो मैंने पाया कि पूरे पैर में दर्द नहीं है। दर्द तो शायद छोटी सी जगह पर है और पूरे पैर में ध्यान के अभाव के कारण ही मुझे उसका अनुभव हो रहा है। और जैसे जैसे मैंने खोजनेकी कोशिश की तो मुझे दो अद्‌भुत बातें ख्याल में आईं जिनका मुझे पता भी नहीं था।

एक तो यह कि दर्द उतना नहीं था जितना मुझे मालूम पड रहा था। जब मैंने खोजने की कोशिश की तो दर्द उतना बिल्कुल नहीं था जितना मैं अहसास कर रहा था। जितना मैं भोग रहा था उतना दर्द था ही नहीं। और दूसरी बात...। जैसे ही दर्द मुझे एक जगह मालूम पडा कि पैर की फलां जगह दर्द हो रहा है, वैसे मुझे एक और बात पता चली जो और भी हैरानी की है वह यह कि दर्द वहां हो रहा था और मैं दूर खडा उसे देख रहा था। मैं अलग था और दर्द अलग था। दर्द कहीं हो रहा था और मैं उसे जान रहा था तो मुझे एक क्षण ऐसा लगा कि मैं अलग हूं।... जान रहा हूं और दर्द अलग है, कहीं हो रहा है।

अगर हमारे जीवन की यांत्रिकता का हमें पता चल जाये तो हमें यह भी पता चल जायेगा कि यांत्रिकता का घेरा कहीं है और मैं कहीं और हूं। मैं यांत्रिकता के बीच में हूं, मैं खुद यंत्र नहीं हूं। और अगर यह अहसास हो जाये कि सारी यांत्रिकता के बीच में मेरी चेतना (consciousness) अलग ही है, तो फिर कुछ हो सकता है। मैं इस यंत्र का मालिक बन सकता हूं। फिर इस यंत्र के साथ मैं कुछ कर सकता हूं क्योंकि मैं इससे अलग हूं और इसके बाहर हूं। लेकिन जो आदमी यंत्र के साथ एक हो जाता है वह कुछ भी नहीं कर सकता। और वह आदमी यंत्र के साथ एक ही है, जिसको यह पता नहीं कि मेरा सारा जीवन यांत्रिक है। इसलिये निराश होने का कोई कारण नहीं है बल्कि आशा से भर जाने का कारण है। लेकिन यह केवल बौद्धिक विचारणा नहीं है। इसे तो जीवन में खोजेंगे तो ही इसके क्रांतिकारी परिणाम परिलक्षित हो सकते हैं। इसलिये यह मत सोचें कि क्या होगा कि मैंने समझ लिया कि मैं एक यंत्र हूं। समझने की जरुरत नहीं है। जानने की जरुरत है कि आप यंत्र हैं। यह एक तथ्य (Fact) है। यह एक तथ्य है, यह कोई सिद्धांत नहीं है। आपको समझाने की जरुरत नहीं है, समझने की जरुरत तो वहां है जहां कोई आपको समझाता है कि आप भगवान हैं। यह तो एक तथ्य है कि आप यंत्र हैं, इसे मानने की या विश्वास करने की भी जरुरत नहीं है बल्कि खोज लेने की जरुरत है, और जैसे ही इसे खोजेंगे वैसे ही वह दूसरी चीज जो आपके भीतर यंत्र नहीं है, अनुभव में आनी शुरु हो जायेगी और धीरे धीरे आप जानेंगे, आपके चारों तरफ यांत्रिकता है लेकिन आप यंत्र नहीं हैं। आप एक चेतना हैं। आप एक आत्मा हैं। लेकिन आप एक आत्मा हैं यह सिद्धांत दोहराने से नहीं पता चलेगा, यह तो जानने से पता चलेगा, यांत्रिकता खोजने से। और क्यों मैं इस बात पर

जोर दे रहा हूं कि आत्मा को जानने के लिये यांत्रिकता खोजना जरुरी है ? कोई वजह है ? अगर आप काले तख्ते पर सफेद लकीर खींचें तो सफेद लकीर दिखाई पडेगी, और अगर आप सफेद तख्ते पर सफेद ही लकीर खींचें तो वह दिखाई नहीं पडेगी । अगर आपको पूरी तरह यह अहसास हो जाये कि आपका जीवन यांत्रिकता है तो उसीके बीच में इसी काले बोर्ड पर चेतना की सफेद लकीर आपको दिखाई पडनी शुरु होगी । नहीं तो वह नहीं दिखाई पडेगी । यांत्रिकता के विरोध में ही आपको चेतना का अनुभव होगा, नहीं तो अनुभव होगा ही नहीं । जीवन में हमारे सारे अनुभव विरोध के कारण होते हैं, नहीं तो नहीं होते हैं । अभी आकाश काले बादलों से छा जाये, और एक बिजली चमके, तो बिजली दिखाई पडेगी । अभी यह बल्ब जल रहा है, यहां थोडी देर पहले भी जल रहा था लेकिन तब इसकी रोशनी पता नहीं चल रही थी, क्योंकि चारों तरफ रोशनी थी । अब रात उतरने को शुरु हो गई है, तो आपके चेहरों पर बल्ब की रोशनी आनी शुरु हो गई है । रात गहरी होती जायेगी और बल्ब प्रगाढ होकर दिखाई पडने लगेंगे । रात जब पूरी अंधेरी हो जायेगी तो बल्ब अपनी पूरी रोशनी में दिखाई पडेगा । और मैं जो जोर दे रहा हूं इस बात पर वह इसीलिये । यदि यांत्रिक जीवन (Mechanical life) का पूरा अनुभव हो जाये तो उसके विरोध में आपको चेतना की वह लकीर भी बिजली की भांति दिखाई पडनी शुरू हो जायेगी जिसका नाम आत्मा है । लेकिन वह दिखाई पड सके इसके लिये जरुरी है कि यांत्रिकता का बोध जितना गहरा हो उतना ही शुभ है । क्योंकि उसी की पृष्ठभूमि में आपको आत्मा का अनुभव होगा । इसलिये निराश होने की बात नहीं है बल्कि आशा से भर जाने की बात है । उसे खोजें और देखें और पहचानें । आत्मा को मत खोजें । उसको आप नहीं खोज सकते हैं । लेकिन अभी आप अपनी यांत्रिकता को खोजें । उसी यांत्रिकता की खोज से आत्मा की लकीर आपको स्पष्ट होनी शुरु होगी । उसी के बीच आपको उस बिजली की चमक दिखाई पडनी शुरु हो जायेगी । उस चमक की पूर्णता में ही परमात्मा उपलब्ध होता है । लेकिन इसके पहले परमात्मा के संबंध में कुछ भी कहना, कुछ भी सोचना एकदम नासमझी है और गलत है । और गलत ही नहीं वह खतरनाक बात भी है । क्योंकि वैसा ज्ञान वास्तविक ज्ञान के आगमन पथ पर अवरोध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बनता है ।

एक मित्र ने पूछा है कि भगवान की धारणा का जन्म कैसे हो गया ? भगवान की धारणा का जन्म भय (Fear) के कारण हो गया । अनुभव का

जन्म, परमात्मा के अनुभव का जन्म भय के कारण नहीं होता । वह तो ज्ञान के कारण होता है । लेकिन भगवान की धारणा (concept) भगवान के सिद्धांत का जन्म भय के कारण होता है ।

एक गांव में से एक फकीर गुजर रहा था । उस गांव के राजा ने उसे पकडवाकर बुलवा लिया । और दरबार में उसे बुलाकर कहा, कि मैंने सुना है कि तुम बहुत बडे रहस्यवादी संत हो, और मैंने सुना है कि तुम्हें परमात्मा के दर्शन होते हैं । मेरे सामने तुम रहस्यवादी संत हो, ऐसा सिद्ध करो । और अगर सिद्ध न कर सके तो गरदन अलग करवा दूंगा । उस फकीर ने यह सुना । वह बादशाह पागल था, जैसे कि अकसर बादशाह होते हैं, और खतरा था कि कहीं वह गरदन अलग न करवा दे । उसने एकदम आंखें बंद कीं और कहा कि देखो, वे मुझे दिखाई पड रहे हैं । आकाश में भगवान अपने सिंहासन पर बिराजमान हैं और देवता उसकी स्तुति कर रहे हैं । वह नीचे देखो, जमीन में वहां मुझे राक्षस और नरक यह सब दिखाई पड रहा है । उस राजा ने कहा बडी हैरानी की बात है, क्या तुम्हें दीवारों के पार भी दिखाई पडता है? कौनसी तरकीब है जिसके कारण तुम्हें आकाश में बादलों के पार भगवान दिखाई पड जाता है ? और जमीन के नीचे नर्क दिखाई पड जाता है ? तो उसने कहा: कोई तरकीब नहीं है महानुभाव ! बहुत ज्यादा चीज की जरुरत नहीं है। भय भर होना चाहिये और फिर सब दिखाई पडने लग जाता है (only fear is required)

जब आपने कहा कि गरदन कटवा देंगे मैंने आंखें बंद कर लीं और मुझे भगवान दिखाई पडने लगे और नरक भी दिखाई पडने लगा । सिर्फ भय की जरुरत है और फिर सब दिखाई पडने लगता है, किसी और चीज की कोई जरुरत नहीं है ।

आपको भय हो तो आपको सब कुछ दिखाई पडने लगेगा. . . भूत भी और भगवान भी । लेकिन ऐसे दिखाई पडनेवाले न तो भूत सच हैं और न भगवान सच हैं । आपके भय पर जो भी अनुभव खडा होता है, वह व्यर्थ है और झूठा है ।

भगवान की धारणा तो मनुष्य के भय से पैदा हो जाती है । जीवन में सब दुखी हैं, पीडित और भयभीत हैं । जीवन में कहीं भी कोई सहारा नहीं है । जीवन में कहीं कोई आसरा नहीं है । जीवन में सुरक्षा (security) का कोई पता नहीं है। सब घबडाहट में मरनेवाले हैं । इसलिये आदमी डरता है और इस डर से आकाश में सहारे खोजता है । हे भगवान ! शायद तुम्हीं सहारा हो । शायद तुम्हारे पैर पकडूं और मुझे सहारा मिल जाये, सुरक्षा मिल जाये ।

इस जगत् में तो कुछ सहारा मिलता नहीं है, कोई किनारा नहीं है । तुम्हीं मेरे किनारे हो । वह घबडाहट में भय की कल्पना करता है और उसके पैर पकडके

प्रार्थनायें करता है और हाथ जोडता है और स्तुतियां करता है । शायद तुम प्रसन्न हो जाओ और मुझ पर कृपा करो और मेरे जीवन के सहारे और आधार बन जाओ । यह भगवान एकदम झूठा है । क्योंकि इसका जन्म हमारे भय से हुआ है और भय हमारा बिल्कुल यांत्रिक है । इसलिये तो धार्मिक आदमी को ईश्वरभीरु (God-fearing) भगवान से डरा हुआ कहते हैं । भगवान के प्रति भीरु । बडी अजीब बात है । कोई आदमी ईश्वरभीरु होकर भी धार्मिक हो सकता है ? जिस आदमी के भीतर भगवान का भय है, वह तो कभी भी धार्मिक नहीं हो सकता । धार्मिक होने के लिये तो अभय (Fearlessness) चाहिये । अभय चित्त ही उस जीवन को पाता है जो कि सत्य है, जो कि परमात्मा है । जो भयभीत है वह अपने भय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता । भय से सुरक्षा के लिये उसने जो कल्पनायें की हैं, वह उनको ही जानता है । और भय से निकली हुई सारी कल्पनायें झूठी हैं ।

भगवान की धारणा तो भय से निकलती है किन्तु भगवान का अनुभव तो जागृत चेतना से उपलब्ध होता है । और चूंकि हम सोये हुये हैं, यांत्रिक हैं, हमारे सारे भगवान हमारे जैसे ही झूठे हैं । हमारे सब भगवान हमारे जैसे ही यांत्रिक हैं क्योंकि उनको बनाने वाले हम हैं । उनको हमने ही निर्मित किया है । मंदिरों में जो मूर्तियां खडी की हैं, वे हमने खडी की हैं । मस्जिदें और शिवालय बनाये हैं तो हमने । धर्म खडे किये हैं वो हमने । शास्त्र रचे हैं वो हमने । और स्वभावतः जैसे हम होंगे, वैसे ही हमारे शास्त्र होंगे । वैसे ही हमारे भगवान होंगे और इसलिये आदमी बदलता जाता है वैसे ही उसकी भगवान की धारणा भी बदलती जाती है ।

पिछली सदी का भगवान और तरह का था । ज्यादा राजतांत्रिक (Autocrat) था क्योंकि आदमी का दिमाग राजतन्त्र में था और इसलिये भगवान की शक्ल राजा की तरह ही थी । आजकल का भगवान थोडा ज्यादा लोकतांत्रिक (Democratic) है क्योंकि आदमी लोकतांत्रिक हो गया है । जैसा मनुष्य वैसा भगवान. . . यही नियम है ।

अगर आप तीन हजार वर्ष पहले की किताबें पढें तो घबडा जायेंगे । हमारी कल्पना में भी नहीं आयेगा कि भगवान ऐसा भी कैसे हो सकता है ? अगर आप भगवान के खिलाफ एक शब्द भी बोल दें तो वह आपकी हत्या कर देगा । ऐसा था तीन हजार साल पुराना भगवान । वह आपके ऊपर बिजली भी गिरा देगा, आपको तबाह कर देगा । आज हम ऐसा सोच भी नहीं सकते । हम तो भले आदमी के बारे में भी ऐसा नहीं सोच सकते कि उसको हम बुरा कहें तो वह हमारे घर में आग लगा देगा । भले आदमी की धारणा बदल गई है हमारी । लेकिन पुराना भगवान

बिजली गिराता था, आग लगा देता था, नरक में डाल देता था। हमारे दिमाग जैसे थे, वैसा हमने भगवान बना लिया था। अब हमारे दिमाग बदले तो हमने थोडा लोकतांत्रिक बनाया भगवान को। वह क्षमा भी करता है, दया भी और प्रेम भी करता है। आगे शायद हमारे दिमाग बदल जायेंगे, हम दूसरी तरह का भगवान बना लेंगे। भगवान की धारणा हमारी सृष्टि है. . भगवानों की कल्पनायें हमारे द्वारा ही निर्मित हैं। वह सब हमारी ही मनसृष्टि (mind creators) है। ये धारणायें हमारी हैं और इनसे भगवान का कोई भी संबंध नहीं है। ये हमारे मन के खेल हैं, उससे ज्यादा नहीं। चूंकि स्त्रियोंने अबतक भगवान नहीं बनाये, इसलिये उनकी शक्ल पुरुष जैसी ही है। अगर स्त्रियां उन्हें बनायें तो उनकी शक्ल स्त्रेण हो तो कोई आश्चर्य न होगा। और अगर पशु पक्षी अपने भगवान बनायें तो वे अपनी शक्ल में ही बनायेंगे। क्या आप सोच सकते हैं कि घोडे और गधे अगर भगवान की कल्पना करें तो क्या आदमी की शक्लों में करेंगे ? कोई घोडा और गधा आदमी को इस योग्य नहीं समझेगा कि वह उसकी शक्ल में भगवान को बनाये। वह अपनी शक्ल में बनायेगा। नीग्रो अपनी शक्ल में बनाता है, चीनी अपनी शक्ल में, भारतीय अपनी शक्ल में और तिब्बती भी अपनी ही शक्ल में।

नीग्रो का जो भगवान है, वह कभी सफेद रंग का नहीं हो सकता। आपको पता है : वह काले रंग का ही होगा। हां, शैतान सफेद रंग का हो भी सकता है. . या अंग्रेज का भगवान कभी काले रंग का हो सकता है ? हिन्दुओं से पूछिये कि काले रंग के कौन होते हैं ? वे कहेंगे : राक्षस। लेकिन नीग्रो से पूछिये वह तो कहेगा काले रंग के राक्षस होते हैं कभी ? काले रंग के तो भगवान होते हैं और जितना शुद्ध उनका काला रंग होता है, उतना किसी का भी नहीं होता। शुद्धतम जो काला रंग होता है, वही है भगवान का रंग और सफेद रंग का तो शैतान ही हो सकता है।

हमारी अपनी धारणायें अपनी ही शक्ल में निर्मित होती हैं। ये सारी हमारी ही कल्पनायें हैं। उनका कोई भी मूल्य नहीं है। लेकिन हां, सत्य का एक अनुभव भी है जहां हम मिट जाते हैं और हम उसे जानते हैं, जो वस्तुतः है। वहां न हम रह जाते हैं : न पुरुष न स्त्री, न भारतीय न हिन्दु, न मुसलमान, वहां केवल चेतना रह जाती है। चेतना जिसका कोई रंग नहीं है, चेतना जिसका कोई आकार नहीं है। चेतना जो हिन्दू नहीं है, मुसलमान नहीं है, हिन्दुस्तानी नहीं है, पाकिस्तानी नहीं है। ईसाई और यहूदी भी नहीं, पारसी भी नहीं। चेतना मात्र रह जाती है जहां, वहां वह जाना जाता है जो है। वही जो चेतना का प्राण है और केन्द्र है। उसका नाम है परमात्मा। लेकिन वह धारणा (Concept) नहीं है बल्कि अनुभव

(Experience) है। वह शब्द नहीं, शब्दातीत साक्षात् है। वह विचार नहीं, निर्विचार अनुभूति (Realisation) है।

भगवान की धारणा तो भय से पैदा होती है लेकिन भगवान का अनुभव जागृत चित्त से पैदा होता है और भय का कोई स्थान जागृत चित्त में कभी नहीं है। जिसे हम धर्म मानकर चलते हैं वह धर्म नहीं है। और जिसे भगवान मानकर चलते हैं वह भगवान नहीं है। अभी तो हमें इसका ही पता नहीं है कि हम कौन हैं और क्या हैं ? और हम भगवान की खोज की यात्रा पर निकल जाते हैं। आह, आदमी का अहंकार अद्‌भुत है। जब उसे अहसास होता है कि भगवान नहीं मिल रहा है तो फिर वह कल्पनायें करना शुरु कर देता है। और उसकी कल्पनाशक्ति इतनी शक्तिशाली है, उसकी स्वप्न देखने की क्षमता इतनी प्रगाढ है कि वह जिस कल्पना का चाहे उसका सहज ही अनुभव कर सकता है। धर्म की सरिता कल्पना के मरुस्थल में ही आज तक खोई रही है। और स्वप्न देखने के सुख में मनुष्य सत्य से वंचित ही रहा आया है। क्या आपको अपनी कल्पना शक्ति का पता नहीं है ? हमारी कल्पनायें इतनी तीव्र हैं और हमारे स्वप्न देखने की शक्ति इतनी बडी है कि हम जिसका चाहें उसका अनुभव कर सकते हैं। सोया हुआ आदमी कुछ भी देख सकता है। हम अभी सोये हुये हैं। यांत्रिक आदमी सोया हुआ आदमी है। यांत्रिकता और सोये हुये मन में कोई फर्क नहीं है। हमें पता भी नहीं है कि हम क्या कर रहे हैं ? इसलिये पहली बात जागरण है, कल्पना नहीं। सत्य में जाना है, स्वप्न में नहीं। और सत्य की कोई भी धारणा नहीं हो सकती है। सब धारणायें स्वप्न निर्मात्री होती हैं। सत्य में प्रवेश के लिये तो धारणायें मात्र छोड देना आवश्यक है। परमात्मा की धारणा छोडकर जो अज्ञात और अज्ञेय जीवन के प्रति जागता है, वही और केवल वही परमात्मा की अमृतानुभूति को उपलब्ध होता है।

: ज्ञानगंगा :

: विचारों से संकलित :

संकलन : डा. गोविन्ददास, एम. पी.

(१) मै बोरी खोजन गई, रही किनारे बैठ

जीवन दो भांति जिया जा सकता है । एक तो इस तरह कि अन्ततः समग्र जीवन की उपलब्धि के रूप में कोई लक्ष्य न हो और एक इस भांति कि प्रति श्वांस प्रश्वांस में उसका ध्यान रहे जहां कि अन्ततः पहुंचना है और जो कि अन्ततः होना है । साधारणतया पहले प्रकार से ही अधिक लोग जी लेते हैं । उनका जीवन एक अखंड धारा न होकर खण्ड-खण्ड में बैठा हुआ होता है । स्वभावतः न तो वे स्वयं के भीतर जीवन की उस अन्तर्धारा को अनुभव कर पाते हैं जो कि अखण्ड है और न ही स्वयं के बाहर ही वे आणविक प्रकृति के पार विराट विश्वसत्ता के दर्शन करने में समर्थ हो पाते । जैसी जीवन की जीने की दृष्टि और पद्धति होती है उससे भिन्न सत्य की अनुभूतियां नहीं होती । सत्य की अनुभूति मुलतः विचार पर नहीं जीवन की पद्धति पर निर्भर है । जिस तल पर हमारा जीवन हो उस तल पर ही सत्य को जाना जाता है । जीवन घाटियों में हो तो पर्वत शिखरों पर जो आलोक है उसका अनुभव नहीं हो सकता । घाटियों में रहकर भी विचार तो पर्वत शिखरों के हो सकते हैं लेकिन अनुभूति नहीं । सोये होकर भी कोई जागने का स्वप्न देख सकता है किन्तु जाग जाना दूसरी ही बात है । निश्चय ही स्वप्न और सत्य में जितना अन्तर है उतना इस जगत में किन्हीं दुसरे दो बिन्दुओं में नहीं है । विचार स्वप्न का ही एक प्रकार है, असली बात इसलिए विचार नहीं जीवन है ।

ऐसे लोग हैं जो ईश्वर को जानना चाहते हैं, आत्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं, सत्य क्या है उसकी अनुभूति पाना चाहते हैं, परंतु स्वयं को किसी भी भांति परिवर्तित करने को राजी नहीं है। उनकी दृष्टि है कि जो भी है वह विचार से ज्ञेय है। फिर जो विचार के अन्तर्गत नहीं आता वह उनके लिए अज्ञेय ही नहीं बस असत्तावान् ही हो जाता है। विचार में जिसकी उन्हें अनुभूति न हो वह उनके लिए है ही नहीं। जबकि यथार्थ यह है कि विचार में कभी कोई अनुभूति नहीं होती। जब भी अनुभूति होती है तब वह विचार के अतीत होती है। विचार तो अधिक से अधिक उसकी अभिव्यक्ति का एक असमर्थ साधन मात्र है। जो जाना है वह तो विचार में हो सकता है लेकिन जो जो विचार में है वह भी जाना गया हो ऐसा अनिवार्य नहीं है। क्योंकि विचार अक्सर ही उधार होते हैं। विचारों का विशाल से विशाल संग्रह भी मात्र संग्रह ही होता है। वह सत्य कभी नहीं हो पाता। सत्य तो सदा विचार से परे रहता है। विचार का सारा संग्रह अनुभूति के अभाव में निष्प्राण है। जैसे कोई शरीर की सारी हड्डियों का ढांचा जोड़कर खड़ा कर ले तो भी वह निष्प्राण कंकाल मात्र ही होगा। वैसे ही लोग विचारों के कंकाल खड़े कर लेते हैं और उन्हें ही सब प्राण मानकर भूल में पड़ जाते हैं। निश्चय ही प्राणवान् देह में हड्डियां होती हैं, शरीर का ढांचा होता है, मांस मज्जा होती है लेकिन इनका जोड़ मात्र ही प्राणवान् होने का सबूत नहीं है। वही स्थिति विचार और अनुभूति की है। जिन्हें सत्य की अनुभूति हुई है उनके पास भी विचार हैं किंतु जिनके पास विचार ही हों वे इस भ्रम में न रहें कि उन्हें सत्य की अनुभूति भी हुई है। जो सत्य तक पहुंचता है वह जीवन से पहुंचता है, विचारों से नहीं। असलियत में सत्य तक पहुंचना कोई तार्किक निस्पत्ति नहीं है वरन् समग्र जीवन का आमूल परिवर्तन है। इसलिए जो मात्र विचारों में डूबे रहते हैं, और बस सोचते ही रहते हैं वे किनारे पर ही बैठे रह जाते हैं।

कबीर ने कहा है :

जिन खोजा तिन पाइया
गहरे पानी पैठ,
मैं बोरी खोजन गई,
रही किनारे बैठ,।

विचार किनारा है और जीवन गहराई है। स्मरण रहे कि जीवन से और गहरी चीज इस जगत में नहीं है क्योंकि जो जीवन में गहरे उतरता है वह परमात्मा पर पहुंच जाता है। परमात्मा पर पहुंचने का अर्थ है अनन्त पर पहुंच

जाना। सब गहराईयों का एक न एक क्षण अंत आ जाता है अर्थात कहीं न कहीं पहुंचकर ज्ञात होता है कि गहराई समाप्त हो गई है। एक ही ऐसी गहराई है जो समाप्त नहीं होती और उसका अंत नहीं आता – उस गहराई का नाम ही ईश्वर है। यह गहराई अपने से पृथक अथवा बाहर नहीं अपितु स्वयं के जीवन में ही गहरे उतरने पर उपलब्ध होती है।

जो व्यक्ति तत्काल और सामयिक में ही जीता है वह केवल जीवन पर तैरता है, गहरे नहीं उतर पाता। गहरे उतरने के लिए तो शास्वत में जीना आवश्यक है। सामयिक में जीना लहरों में जीना है। और जिसे शास्वत में जीना हो उसे गहरे पैठना होगा। इस गहरे पैठने का पहला सूत्र है सामयिक में रहो लेकिन ध्यान शास्वत पर रहे। खण्ड खण्ड में जियो किंतु प्राण अखण्ड से जुड़े रहें। कर्म दैनंदिनी में हों और चित्त उसमें जिस पर दिन आते हैं और चले जाते हैं। एक तो समय है जो रोज बहा जाता है और एक सत्य है जो सदा स्थिर है। सत्य और समय से मिलकर संसार बना है। थिर और अथिर के जोड़ से सारा खेल चलता है। अथिर पर ही जिनकी दृष्टि है और थिर का जिन्हें स्मरण नहीं वे जीते तो हैं किंतु जीवन से वंचित रह जाते हैं। इसके विपरीत अथिर में जिनका कर्म है और थिर पर जिनका ध्यान है वह जीते भी हैं और जीवन को भी पा लेते हैं। अथिर में क्रिया हो और थिर में ध्यान हो तो जीवन कर्म में ही अकर्म को उपलब्ध हो जाता है। ऐसी अवस्था में ही वह जाना जाता है जो है। उसके जानते ही, उसके जीवन में आते ही, सब दुःख, सब विषाद, सब बन्धन क्षीण हो जाते हैं और चेतना अपरिमित आनंद और आलोक से भर जाती है।

(२) धर्म जीवन की कला

मिट्टी और मनुष्य में यदि कोई अन्तर है तो वह जीवन का। इसी प्रकार पत्थर और मूर्ति में यदि कोई अन्तर है तो कला का। मनुष्य में जीवन है इसलिए वह मनुष्य है और पत्थर में कला है इसलिए वह मूर्ति है। इस प्रकार जीवन एक कला है किन्तु बहुत कम लोग ही इस सत्य को अनुभव कर पाते हैं और इस कारण स्वाभाविक ही है कि अधिक व्यक्ति जीवन से वंचित रह जाय। मिट्टी का ढेला अथवा कोई अनगढ़ जब कलाकार के हाथ लगता है तो वह एक उपादेय और सुन्दर कलाकृति बन जाता है, अन्यथा प्रकृति के परिवर्तनों में पड़ा वह मिट्टी का ढ़ेला और अनगढ़ पत्थर भी अपनी आकृति और आकार खोकर कीचड़ और एक खाक़ बनकर सड़ गल जाता है इसी प्रकार जीवन मिलता नही वरन्

निर्मित करना होता है। वह आत्म सृजन है। और जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सतत् ही उसकी प्रक्रिया चलती रहती है। यह निर्माण सचेतन न हो तो मनुष्य केवल परिस्थितियों के हाथों में एक जड़ वस्तु की भांति निर्मित होता रहता है। इस निर्माण में न तो वह सचेष्ट होता है और न भागीदार ही। जीवन की परिस्थितियां अवश्य ही उस पर क्रिया करती हैं लेकिन वह स्वयं जीवन पर क्रिया नही करता। जबकि चेतना का विकास स्वयं पर सचेतन रूप से सक्रिय होनेसे होता है। जितनी अधिक मात्रा में हमारी क्रियाएं परिस्थितियों की अचेतन दास न होकर सचेतन और बोधपूर्ण होती है उतनी ही अधिक मात्रा में व्यक्ति आत्मा के निकट पहुंचता है। वस्तुतः सचेतन जीवन-व्यवहार ही व्यक्ति को आत्मा प्रदान करता है। उसके अभाव में हम नाम मात्र को ही जड़ से भिन्न कहे जा सकते हैं। जड़ का अर्थ है जिस पर क्रियाएं होती हो लेकिन जो स्वयं लौटकर किसी भांति की क्रिया करने में असमर्थ हो। अथवा जिसकी स्वयं की कोई प्रतिक्रिया न हो। वह सदा ही निष्क्रिय भागीदार होता है। वह न तो किसी परिस्थिति का विरोध करता है और न ही किसी परिस्थिति को बदलने को उन्मुख होता है। वस्तुतः वह जो भी है वह केवल परिस्थितियों के प्रभाव का जोड़ है। परिस्थितियों से भिन्न और पृथक उसके भीतर कुछ भी नहीं है। संक्षेप में यही जड़ और चेतना का भेद है। इसे एक वाक्य में कहें तो कहना होगा उसमें आत्मा नहीं है। किंतु अधिक मनुष्य भी ऐसे ही जीते हैं जैसे कि उनमें आत्मा नहीं है। और तब उनके जीवन को जड़-जीवन कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वे जीते हुए भी मृत ही होते है। क्योंकि वास्तविक जीवन निश्चेष्टता और निष्क्रियता में नहीं वरन् सचेतन और आत्म जागरुक सृजनात्मकता में है।

साधारणतया सृजनात्मकता का अर्थ होता है वस्तु जगत् में कुछ सृजन करना। फिर चाहे उस सृजन का माध्यम कोई भी क्यों न हो। वह माध्यम पाषाण हो सकता है और तब मूर्ति का निर्माण होगा। या कि शब्द हो सकते हैं और साहित्य का जन्म हो जाता है। याकि ध्वनियां हो सकती हैं जो कि संगीत बन जाती हैं। लेकिन यह सृजनात्मकता भी जीवन को जन्म नही देती है। व्यक्ति का जीवन ही जब उसके सृजन का माध्यम बनता है तभी आत्मा उपलब्ध होती है। और इसीलिए जीवन की कला न केवल कला है वरन् परमकला वही है।

इस परमकला का आधारभूत सूत्र तो यही होगा कि हम सबसे पहले स्वीकार करें कि जीवन भी सृजन का परम माध्यम है। जैसे हम जीते हैं उससे श्रेष्ठतर रूपों में भी उसे जिया जा सकता है। जैसे हम हैं उससे बहुत ऊपर के तल पर

भी हमारा होना हो सकता है। मनुष्य विकास की अंतिम कड़ी नही है। उससे आगे भी बहुत संभावनाएं है। भौतिक क्षेत्र में जिस विकास को हम देख रहे हैं उसका आदि कारण भी मनुष्य ही है। और कहना न होगा कि भौतिक क्षेत्र के इस अभूतपूर्व और आश्चर्यजनक विकास की स्थिति को भी जो आज है जबहम उसकी चरम परिणति नही कह सकते तो मनुष्य के स्वयं के विकासका अनुमान लगाना असंभव नहीं तो आसान भी नही है। जहां तक शरीर का संबंध है सम्भवतः मानवीय देह प्राकृतिक रूप से जितनी विकसित हो सकती थी, हो गई है और विगत लाखों वर्षों में उसमें कोई आधार भूत विकास परिलक्षित-नहीं हुआ है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि जिस भांति मनुष्य के पूर्व की अवस्थाओं में प्राकृतिक और अचेतन विकास हुआ था वैसा विकास भी अवरुद्ध हो गया है। डारविन के कथनानुसार विकास एक यांत्रिक और प्राकृतिक प्रक्रिया है। उसके लिए कुछ करना नही पड़ा है। लेकिन वह प्रकृति के नियमानुसार सहज ही हुआ है। किन्तु, अब वैसा कोई विकास मनुष्य में दिखाई नहीं पड़ता है। संभवतः हम अचेतन विकास के अंतिम बिंदु और सचेतन विकास के प्रथम बिंदु पर खड़े है। अब तो विकास की जो भी संभावनाएं है उनमें हमें सचेतन रूप से सक्रिय होना पड़ेगा। तभी हमारे भीतर प्रसुप्त शक्तियां जाग्रत हो सकेंगी। जीवन को स्वीकार कर लेना उचित नहीं है। ऐसी स्वीकृति विकास में सहयोगी नही होती। विकास का तो आधार ही जो है उसमें अस्वीकार है। हमने पदार्थ के जाल में जो अस्वीकार किये उनसे ही विज्ञान निर्मित हुआ और जिन जातियों ने वैसे अस्वीकार नहीं किये उनमें विज्ञान विकसित नही हो सका। जहां अस्वीकार है वही विकास फलित होता है।

धर्म मनुष्य की चेतना की कैसी प्राकृतिक दशा है उसे अस्वीकारता है। वह उससे संतुष्ट नही है। उसे मनुष्य से और बहुत ज्यादा आशायें हैं। अन्ततः तो धर्म मनुष्य को परमात्मा स्थिति तक पाने में समर्थ मानता है। स्वाभाविक ही है कि जब तक मनुष्य दिव्य जीवन को उपलब्ध न हो जाय तब तक वह असंतुष्टि अनुभव करे। उसका यह असंतोष ही वह प्रमाण है जो उससे भी आगे जाने की संभावना की सूचना है। इस अर्थों में धर्म आत्यंतिक असंतोष है। और यही कारण है कि धर्म ने ही जीवन की कला को भी विकसित किया है। इस प्रकार धर्म जीवन की कला है, क्योंकि वह जीवन जैसा है वैसा नहीं वरन् जैसा होना चाहिए उसकी अभीप्सा है।

(३) स्वर्ग के राज्य का अधिकार

जीवन का लक्ष्य क्या है ? आनंद की खोज । किंतु बहुत कम ऐसे सौभाग्यशाली मानव होंगे जिन्हें आनन्द की उपलब्धि हो पाती है । वरन् देखा यह जाता है कि मनुष्य का मन जितने दुःखों का घर है जंगम सृष्टि के अन्य किसी प्राणी का नहीं । मनुष्य आनंद की यह खोज अपनी प्रज्ञा के कारण ही कर पाता है, परन्तु जहां यह प्रज्ञा एक ओर उसे आनन्द की इस खोज की शक्ति देती है वहां दूसरी ओर उसके दुःखों का भी प्रधान कारण यह प्रज्ञा ही है । दृष्टांत के लिए बीमारी को लें । शारीरिक बीमारियां पीड़ा देती हैं, परन्तु मनुष्य को छोड़ अन्य प्राणियों को यह पीड़ा शारीरिक कष्ट ही पहुंचाती है चूंकि मनुष्य में प्रज्ञा है इसलिए वह शारीरिक पीड़ा में भी कल्पना के कारण अन्य प्राणियों की अपेक्षा कहीं अधिक मानसिक कष्ट पाता है । जैसे वृक्षों में पत्ते लगते हैं वैसे ही मन में दुःख उत्पन्न होते हैं और जितना उन्हें काटो, अलग करो उतने ही दुःख रूपी नये कोपल उत्पन्न होते जाते हैं । अगणित दुःखों का जाल धीरे धीरे पूरे जीवन को ग्रसित कर लेता है । फिर जितने ही ये दुःख बढ़ते जाते हैं उतनी ही एक प्रकार की विक्षिप्तता के साथ आनन्द की खोज आरम्भ हो जाती है । किंतु दुःखी मन आनन्द कैसे पावे ? उसकी आनन्द की यह खोज और एक नया दुःख बन जाता है । यथार्थ में प्रश्न आनन्द की खोज का नहीं दुःख के विसर्जन का है । दुखी मन तो जो भी करेगा उससे दुःख ही उत्पन्न होगा । दुःख के विरोध में आनन्द नहीं खोजा जा सकता । आनन्द तो उस मानसिक अवस्था का नाम है जब चित्त में कोई दुःख न हो । इसलिए यह जानना आवश्यक है कि यथार्थ में दुःख क्या है और उसका यथार्थ कारण क्या है ?

एक अत्याधिक आश्चर्य की बात है कि शुद्ध वर्तमान में कोई दुख नहीं होता। मैं यदि ठीक ठीक उस क्षण में रहूं जो मौजूद है तो दुख का अभाव हो जाता है । आप चाहें भी तो वर्तमान के क्षण में दुखी होना असंभव है । दुख या तो अतीत का होता है या भविष्य का । उसका जन्म या तो स्मृति से होता है यह किसी अपेक्षा से । जबकि न तो अतीत की कोई सत्ता है और न भविष्य की । एक अन-हुआ हो चुका है एक अभी हुआ ही नहीं । जो है वह वर्तमान है । अतीत भी, वस्तुतः नहीं है, मात्र मन में है, यही बात भविष्य के संबंध में भी है । चूंकि मानव को छोड़ अन्य किसी प्राणी में अतीत की स्मृति और भविष्य की अपेक्षा नहीं होती इसी-लिए पशु-पक्षी कृमि कीट आदि दुखी दिखायी नहीं पड़ते । उनकी दृष्टि में चिंता की कोई झलक नहीं रहती । वे जैसे वर्तमान में ही जीते हैं । मनुष्य एक मात्र

ऐसा प्राणी है जो वर्तमान में जीता ही नहीं। होता तो वह भी वर्तमान में है परन्तु जीता अतीत और भविष्य में है। होने और जीने का यही तनाव उसके दुःख का प्रधान कारण है। इस तनाव के कारण वह यथार्थ में जी ही नहीं पाता क्योंकि जीने का जो क्षण था वह करीब करीब अपरिचित ही निकल जाता है। वर्तमान कब आता है और कब चला जाता है हमें इसका पता ही नहीं पड़ता। इसका पता हमें तब लगता है जब वह जा चुका होता है। दूसरे शब्दों में हम केवल अतीत का ही बोध कर पाते हैं। जो मृत है वही हमारी पकड़ में आता है। और जो जीवित है उसमें होकर भी हम उसे नहीं जान पाते। फिर बीते अतीत की स्मृतियों के आधार पर हम भविष्य की भी कल्पना और कामना करने लगते हैं। जो अतीत में जाना है अथवा उसके आधार पर भविष्य में जो पाना चाहते हैं उसी में उलझे रहते हैं। भविष्य वस्तुतः अतीत की ही प्रतिध्वनि है। वह कल्पना में पुनः मांगा गया अतीत है। यों हम अतीत और भविष्य के झूले में झूला करते हैं और जो है जो वर्तमान है वह अनजान और अनजिया ही रह जाता है। मूलतः दुःख का यही कारण है। यथार्थ में दुःख वास्तविक नहीं होता। काल्पनिक और मानसिक होता है। यही कारण है कि एक ही परिस्थिति में दो व्यक्ति अलग अलग दुख उठा लेते हैं। यह भी हो सकता है और होता है कि वही परिस्थिति किसी तीसरे व्यक्ति को कोई भी दुःख न दे सके। यथार्थ में दुःख परिस्थिति पर नहीं, हम पर निर्भर होता है। दुःख जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकौण है। जीवन में कोई दुःख नहीं है। सारे दुःख हमारी दृष्टि में है। जीवन में कष्ट हो सकते हैं, पीड़ाएं हो सकती हैं असुविधाएं हो सकती हैं लेकिन दुःख नहीं होता। फिर जिसकी दृष्टि दुःख को पकड़ने की है वह कष्टों, पीड़ाओं और असुविधाओं को भी अनंतगुना बड़ा करके पकड़ता है। दुःख की दृष्टि उन्हें वृहदाकार कर देती है। चित्त दुःख शून्य हो तो सारे कष्टों, पीड़ाओं और असुविधाओं में रहते हुए भी जीवन एक आनन्द है यह अनुभव हो सकता है। कष्टों और असुविधाओं को दूर किया जा सकता है और विज्ञान के विकास से वे क्रमशः दूर हो भी रही है, परन्तु दुःख उनके बहुत कम हो जाने पर भी उल्टा और बढ़ गया है। यह एक विडम्बना सी जान पड़ती है कि कष्टों का ह्रास हो और दुःख का विकास। इस स्थिति के मूल में हमारा यही भ्रम है कि दुःख परिस्थितियों में है। परिस्थितियों में केवल कष्ट है, दुःख मनस्थितियों में है। इसलिए हो सकता है कि परिस्थितियों के सुखद होने पर भी चित्त दुखी हो। भविष्य के दुखों की कल्पना इस दुःख को और तीव्र कर देती है।

भविष्य में बड़े बड़े सुखों की महत्वाकांक्षा भी कष्टों को तो बढ़ा ही देती है और जो सुख मिलते हैं वे भी उन कल्पनाओं से कहीं न्यून होने के कारण सुख नहीं पहुंचा पाते। केवल परिस्थितियों का सुखद होना चित्त का आनंदित होना नहीं है, और चित्त आनंदित हो तो बड़े से बड़े कष्ट भी झेले जा सकते हैं। और चित्त आनंदित न हो तो बड़े से बड़े सुख भी सुख नहीं पहुंचा सकते। स्मरण रहे कि एक ऐसे चित्त की भी दशा है कि कष्ट भी आनन्द मालूम होते हैं और एक ऐसी अवस्था भी है कि सुख भी कष्ट हो जाते हैं।

वर्तमान के क्षण से विमुक्त होना दुःख है ओर वर्तमान से संयुक्त होना आनन्द। जो क्षण क्षण सजग होकर जीता है और जीवन-सत्ता से संस्कृति और कल्पना के कारण टूटता नहीं वरन् सतत् संबंधित रहता है वही समाधि में है। कबीर ने इसे ही सहज समाधि कहा है। वे कहते हैं– "साधो सहज समाधि भली।" जैसे ही चित्त वर्तमान से हटा कि वह असहज हो जाता है। उसमें जटिलता और ग्रन्थियां उत्पन्न हो जाती हैं। बालक सहज रहते हैं क्योंकि वर्तमान में रहते हैं। ईसा से किसी ने पूछा था, "आपके स्वर्ग के राज्य के अधिकारी कौन होगे ?" ईसा ने एक छोटे से बच्चे को ऊपर उठाकर कहा "जो बालकों की भांति सरल हों।" निश्चय ही सरलता और सहजता में ही आनन्द है। यही आनन्द मोक्ष है, यही आनन्द परमात्मा है।

(४) : मैं की खोज :

"मैं" से अधिक महत्वपूर्ण और कोई शब्द नहीं है। शेष सारे शब्द उसके बाद ही आते हैं। क्योंकि प्रत्येक अनुभव में 'मैं" तो पूर्व से ही मौजूद रहता है। उसके बिना तो कोई अनुभव ही नहीं होगा। इसलिए इस "मैं" पर विचार करना बहुत उपादेय है। शायद इसमें ही वह कुंजी छिपी हो जो चेतना के द्वारा खोल दे। निश्चय ही "मैं" दो दुनियाओं को अलग करता है। उसके बाहर एक जगत् है और उसके भीतर एक जगत् है। "मैं" बाह्य और आन्तरिक की सीमा-रेखा है। "मैं" से बाहर चलें तो पदार्थ का जगत् है और "मैं" से भीतर चलें तो परमात्मा का। जो मैं के बाहर परमात्मा को खोजते हैं, वे भूल में पड़ जाते हैं। फिर उन्हें परमात्मा उपलब्ध न होता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। वस्तुतः वे जहां खोज रहे हैं, वहां वह है ही नहीं। उसे तो चैतन्य में ही खोजना और जानना होगा और चैतन्य का अनुभव "मैं" के बाहर नहीं होता। दूसरों की जो आत्म-सत्ताएं हैं, वे हमारे लिए अदृश्य हैं। केवल उनकी देहें भर

हमें दृश्य हो पाती हैं। न तो हमारे 'मैं" को कोई देख पाता है और न हम किसी दूसरे के मैं को देख पाते हैं। दूसरे में तो हम उसका अनुमान ही करते हैं। उसका प्रत्यक्ष तो केवल स्वयं में ही हो सकता है। इसलिए ही बाहर खोजने पर परमात्मा अनुपलब्ध है। क्योंकि बाहर चैतन्य अदृश्य है। उसे बाहर खोजने वाले दो प्रकार की भूलें करते हैं। एक तो पदार्थ-वादी नास्तिकता के निष्कर्षों पर पहुंच जाते हैं और दूसरे परमात्मा की किसी मनो-कल्पित धारणा में पड़ जाते हैं। बाहर खोजने वालों को या तो अस्वीकार करना होता है या कल्पना करनी होती है। तथाकथित नास्तिक और आस्तिक इसी भांति वे अस्वीकार या कल्पना-सृष्टि स्वीकार में जीवन को व्यतीत करते हैं। दोनों को ही सत्य की उपलब्धि नहीं होती। वे दोनों ही एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए दोनों में द्वन्द्व और संघर्ष है। कल्पना आधारित आस्तिकता नास्तिक के संदेश से सदा भयभीत रहती है। क्योंकि हम चाहे कितनी ही प्रगाढ़ कल्पना करें, बहुत गहरे तल पर स्वयं के भीतर भी संदेह नष्ट नहीं होता है। सब भांति की बाह्य आरोपित श्रद्धाओं में सन्देह के बीज छिपे ही रहते हैं। असल में जिसके भीतर सन्देह न हो उसके भीतर श्रद्धा का भी सवाल नहीं रह जाता। सन्देह को भुलाने के लिए ही श्रद्धा की शिक्षा है। सन्देह से डराने को ही 'संशयात्मा नष्ट हो जाते हैं', इसका प्रचार है। भय और प्रच्छन्न सन्देह पर खड़ी हुई श्रद्धाओं का सत्य की दृष्टि से कोई भी मूल्य नहीं है। उससे तो वह नास्तिक ही बेहतर है जो किसी कल्पना में नहीं है। नास्तिक का खतरा कल्पना नहीं वरन् निषेधा-त्मक दृष्टि है। उसकी घोषणाएं अनुभव और प्रयोग पर नहीं वरन् मात्र बौद्धिक ऊहापोह पर निर्भर होती हैं। और वह अपने ज्ञान की सीमा से ज्यादा मान्य-ताएं बना लेता है। यदि उसमें बौद्धिक ईमानदारी हो तो वह यह नहीं कह सकता है कि ईश्वर नहीं है, ज्यादा से ज्यादा यही उसके अधिकार में है कि कहे कि जितना मैं जानता हूं, उसमें ईश्वर नहीं है। ईश्वर का निषेध अज्ञान-पूर्ण है। अपने अज्ञान की घोषणा ही अर्थपूर्ण हो सकती है। लेकिन नास्तिक भी अधिकांशतः आस्तिक की प्रतिक्रिया से पैदा होते हैं। इसलिए जिस भांति आस्तिक ईश्वर के होने की कल्पनाओं में पड़ जाता है, उसी भांति नास्तिक ईश्वर के न होने की कल्पना में। और कल्पना चाहे वह किसी भी रूप की हो— विधायक या निषेधात्मक, सत्य के आगमन में बाधा है। इन दोनों प्रवृत्तियों से बचा हुआ चित्त एक भांति से अज्ञेयवाद में होता है, वह अपने अज्ञान को स्वीकार करता है और ज्ञान की भारी संभावनाओं को भी अस्वीकार नहीं करता। ऐसा चित्त

ही जो किसी पूर्व धारणा में आबद्ध नहीं है सत्य को जानने में समर्थ हो जाता है। लेकिन जल्दी ही सुख देने वाली कल्पनाओं में या सत्य की खोज के श्रम से पलायन के लिए किन्हीं धारणाओं में अपने को आबद्ध कर लेना मनुष्य के आलसी मन को सहज ही भा जाता है। यही कारण है कि हम किसी विश्वास या किसी अविश्वास में बहुत जल्दी आबद्ध हो जाते हैं। जीवन के अंतिम क्षण तक खोज में लगे रहने का साहस बहुत कम लोगों में होता है, यही कारण है कि जो युवा होने पर नास्तिक थे, वे ही वृद्ध हो जाने पर आस्तिक हो जाते हैं, क्योंकि युवावस्था में नास्तिक होना सुखद था और वृद्धावस्था में आस्तिक होना। युवकों को नास्तिकता, स्वच्छंदता दे देती है और वृद्धों को आस्तिकता सुरक्षा। जबकि अन्वेषक मन न स्वच्छन्दता चाहता है, न सुरक्षा। उसकी आकांक्षा तो सत्य की है। सत्य ही उसकी स्वतन्त्रता है और सत्य ही उसकी सुरक्षा।

सत्य को ही जानने की जिनकी तीव्र प्यास है, उन्हें "मैं" के बाहर नहीं, बरन् भीतर चलना होता है, क्योंकि "मैं" के बाहर तो किसी भी भांति पदार्थ के अतिरिक्त दर्शन नहीं हो सकते। पार्थिव इन्द्रियां केवल पार्थिव का ही साक्षात् कर सकती हैं, अपार्थिव की खोज और अनुभूति तो अपार्थिव से ही होंगी। वही अपार्थिव हमारे "मैं" के भीतर छिपा है। चेतना का बोध प्रत्येक को होता है। साधारणतः हम बाहर इतने व्यस्त रहते हैं कि वह बोध तीव्र नहीं हो पाता। बोध केवल उन्हीं वस्तुओं का होता है जिस ओर हमारा ध्यान जाय। खेल में खिलाड़ी को लगी चोट का बोध नहीं होता, खेल के बाद ही उसे ध्यान आता है। बोध की धारा यदि कहीं व्यस्त हो तो अन्य जगह से अनुपस्थित हो जाती है। एक ही बाजार की सड़क से अलग-अलग लोग अलग-अलग दुकानों को देख पाते हैं, जो दवा खरीदने निकलता है, वह किताबों की दूकान को शायद देख भी न पावे। चमार लोगों के जूतों को देखते हैं, दर्जी लोगों के कपड़ों को। मित्र जिस व्यक्ति में सदगुण देखते हैं, शत्रु उसी में दुर्गुण देख लेते हैं। कल तक जो हमारा मित्र था, वही व्यक्ति हमारा शत्रु हो जाय तो कल तक उसमें जो एक देखते थे, उससे बिलकुल अन्यथा देखना शुरू कर देगे। असल में जहां हमारा बोध होता है, उसी का दर्शन होता है। चूंकि बोध सदा बाहर है, इसलिए दर्शन पदार्थ का है। बोध को बाहर से भीतर लाना ही धर्म है। यदि हम समस्त शक्ति से बोध को अन्तर्गामी कर सकें तो जो "मैं" के पीछे छिपा है, उसके द्वार खुलने लगते हैं और चेतना के लोक में एक अभिनव यात्रा का आरम्भ हो जाता है। जो बाहर अदृश्य है, वही वहां दृश्य होने लगता है। फिर जैसे-जैसे उसमें गहरा

प्रवेश होता है, वैसे वैसे ही "मैं" भाव भी विलीन होने लगता है और शेष रह जाती है, मात्र शुद्ध सत्ता। शुद्ध सत्ता मात्र की इस अनुभूति का नाम ही परमात्मा है।

(५) सुख-स्वप्न और स्वप्न-भंग

बहुत बातें है जो बाहर सीखी जा सकती है, जानी जा सकती है और देखी जा सकती है, इसके बावजूद बहुत बातों का संबंध बाहर से नही है और जो केवल अपने भीतर ही हमें मिल सकती है। इनमें सत्य सर्वोपरि है। सत्य की खोज शास्त्रों से नहीं वरन् स्वयं के जीवन में सुख की खोज के असफल हो जाने से प्रारंभ होती है। साधारणतः हमारा मन सुख चाहता है। यह दौड़ जन्म-जात है। सुख को पाने की लालसा सीखनी नही होती। उसके लिए न कोई विद्यालय है, न कोई विधान है, न कोई गुरू है, न कोई पंथ-संप्रदाय। एक अर्थ में तो समस्त धर्म उसके विपरीत ही खड़े हुए है। इसके विरोध के बावजूद भी मनुष्य किसी बहुत गहरी अचेतन प्रेरणावश सुख को खोजता है। निश्चय ही उसके प्राणों में कोई प्यास है, अभीप्सा है, अभाव है और उस सबकी पूर्ति के लिये ही खोज है। यह खोज इस बात की सूचना है कि मनुष्य अपने को दुःख में पाता है। सुख की लालसा जन्मजात है इसका अर्थ हुआ कि हम जन्म से ही दुःख में पैदा हुए हैं। बुद्ध ने कहा है जन्म दुःख का प्रारम्भ है। और इसीलिए जीवन सुख की खोज है। सुखी मनुष्य वह नही है जो सुख को खोजता है। सुख की खोज तो दुःखी चित्त का लक्षण है। और सुख को कोई चाहे कितना ही खोजे उससे दुःख का अंत नही आता है। क्योंकि किसी भी सुख की उपलब्धि चित्त की मूल दुख-व्यवस्था को परिवर्तित करने में असमर्थ है। दुःख भीतर है, स्वयं में है इसीलिए बाहर खोजा गया कोई भी सुख उसे कैसे नष्ट कर सकेगा? इसलिए जब तक कोई विशिष्ट सुख उपलब्ध नही होता तब तक उसकी प्रतीक्षा में भले ही सुख की आशा मालूम हो किन्तु उसके उपलब्ध होते ही वह व्यर्थ हो जाता है। सब भांति के सुख के संग्रह को उपलब्ध करने के बाद भी पाया जाता है कि दुख अपने स्थान पर अछूता मौजूद है। इस विलक्षणता का दर्शन मनुष्य को सुख की खोज से हटकर दुख निवृत्ति की खोज में संलग्न करता है। धर्म सुख का अनुसंधान न होकर दुःख मुक्ति का अनुसंधान है। मोक्ष या मुक्त चित्त की अवस्था सुख की अवस्था नही वरन् दुःख शून्य अवस्था है और यही अवस्था वास्तविक आनंद है।

जीवन के अनुभव यदि बोध पूर्वक निरीक्षित हुए हों और विचार पूर्वक उनसे निष्कर्ष लिये गये हों तो बहुत शीघ्र ही सुख के पीछे दौड़ने का भ्रम नष्ट हो जाता है। और जब तक यह भ्रम नष्ट न हो तो कोई भी शास्त्र और कोई भी शिक्षा मनुष्य के भीतर सत्य की प्यास को उत्पन्न नही कर सकती। सुख और सत्य दो विरोधी बातें है, दोनों में असाधारण असाम्य है और अपूर्णीय अन्तर है। जहां सुख की कामना है वहां सत्य नही और जहां सत्य है वहां सुख की कामना का कोई अस्तित्व नही। सुख मात्र एक वासना है। जबकि सुख और दुःख से परे सत्य एक शास्वत तत्व है। वह न सुख से वाधित होता है और न दुःख से खण्डित। वह अक्षय है, अद्वितीय है, अलौकिक है। वह काल और परिस्थिति के प्रभाव से अप्रभावित, अकथनीय, अवर्णनीय सर्वव्यापी आलोक है। वह कोई पदार्थ नही जिसे पाया जा सके। उसके पाने में नही, जानने में, उसकी उपलब्धि में नही, जिज्ञासा में आनन्द है। जिस क्षण सुख की ओर जाने की कामना विलीन हो जाती है उसी क्षण सत्य को जानने की आकांक्षा का जन्म होता है। और इसीलिए स्मरण रहे कि जो सुख के पीछे हैं वह सत्य की खोज में नही हो सकता है। सुख के पीछे होना इस बात का इंगित है कि अभी सुख को पाने का भ्रम शेष है। इसलिए बहुत से ऐसे धार्मिक व्यक्ति जो स्वर्ग की कामना में हो वे वस्तुतः धार्मिक नही है। क्योंकि बहुत सूक्ष्म अर्थों में वे अभी भी सुख का ही अनुसंधान कर रहे हैं। जो वासना इस जीवन में अतृप्त और असंतुष्ट रह गई है उसका ही उन्होने परलोक में विस्तार कर लिया है। और यही वजह है कि स्वर्ग हो या वहिस्त वहां उन्ही सुखों का तीव्रतम और शुद्धतम रूप कल्पित किया गया है जो यहां उपलब्ध है। वहिस्त में शराब के चश्में बहते हैं और स्वर्ग में सुन्दर चिरयुवा रहने वाली अप्सराएं है और सभी कामनाओं को तत्क्षण पूरा कर देने वाले कल्पवृक्ष हैं। स्वर्ग धार्मिक चित्त की कल्पना नही वरन् कामी और लोभी चित्तका ही विस्तार हैं। सुख की खोज का ही यह रूपान्तरण है। सत्य की खोज तो तभी प्रारंभ होती है जब सभी स्थूल और सूक्ष्म तलों पर यह स्वानुभूत हो गया हो कि सुख का अनुसंधान मृगमरीचिका है। उसे पाया ही नही जा सकता। उसे पाने की वृत्ति में ही भूल है। वह स्वयं के चित्त की वास्तविक दशा को न जानने से पैदा हुआ भ्रम है। अतः प्रश्न सुख को पाने का नहीं प्रश्न दुःख को मिटाने का है। स्वर्ग जाने की समस्या नही है, समस्या नरक से निकलने की है। सुख की कामना में दुःख को भूला जा सकता है मिटाया नहीं। वह एक मादक द्रव्य का काम भी कर सकता है। उसके नशे में दुःख सहनीय हो जाता है। और दुःख का सहनीय हो जाना सबसे आत्मघाती बात है। यह दुःख

के होन से भी बुरी बात है । क्योंकि उस भांति दुख के ऊपर उठने की दिशा का प्रारंभ ही नहीं हो पाता । जो व्यक्ति स्वयं की दुःख अवस्था के प्रति सचेत होगा वह अपनी दुःख स्थिति से किसी भी भांति सहमत और सन्तुष्ट नहीं हो सकता है । उसका दुःख ही उसे गतिमान करेगा । उसका दुःख ही उसे दुःख से ऊपर उठने की शक्ति देगा । इस प्रकार दुःख का अनुभव मुक्तिदायी बन जाता है । सुख की खोज और मूर्च्छा इस अनुभव से वंचित रखती है । इसलिए सौभाग्यशाली है वे लोग जिनका यह "सुखस्वप्न" भंग हो गया है और जिन्होने अपने दुख को जाना है क्योंकि वह ज्ञान ही उन्हें सत्य की यात्रा पर अग्रसर कर सकता है ।

समाचार विभाग :

धर्म चक्र प्रवर्तन :

आचार्यश्री के देशव्यापी कार्यक्रम :

"आत्मा तो चिर युवा है। उसका वृद्ध होना अनिवार्य नहीं है। और जो आत्मा से बूढा हो जाता है, वह मरने के पूर्व ही मर जाता है।"

पशुपालन महाविद्यालय, जबलपुर में प्रवचन :

आचार्यश्री ७ अक्टूबर की मध्यान्ह पशुपालन महाविद्यालय भवन में पधारे। महाविद्यालय के विद्यार्थी अति आतुरता से उन्हें सुनने के लिये एकत्रित हुये थे। संभवतः आज सारे देश में वे अकेले ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें विद्यार्थी आदर और आनन्द से सुनते हैं। उनकी वाणी में ही ऐसा कुछ आकर्षण है कि वे युवक युवतियों के मन मोह लेते हैं। उन्होंने यहां कहा: "मैं केवल उन्हें ही युवा कहता हूं जो कि सत्य की खोज का साहस करते हैं। सत्य को जो नहीं खोज रहा है, वह बूढा ही हो गया है। और शरीर की वृद्धावस्था में तो एक अपना सौन्दर्य है लेकिन आत्मा का बूढा हो जाना अत्यंत कुरुप और ग्लानिपूर्ण है। शरीर तो वृद्ध होगा ही लेकिन आत्मा की वृद्धावस्था अनिवार्य नहीं है। आत्मा तो चिरयुवा है और जो उसे बूढा बना लेता है वह अपनी ही हत्या कर लेता है। फिर उसके

जीवन में सत्य की या सौन्दर्य की या शिवत्व की कोई भी ऊंचाईयां उपलब्ध नहीं होती है।"

★

"पृथ्वी नर्क बन गई है... क्यों ? अच्छे लोगों की पलायन वृत्ति से। और पृथ्वी स्वर्ग भी बन सकती है, उनकी जीवन के प्रति प्रतिबद्धता से :"

जीवन जागृति केन्द्र जबलपुर : कार्यकर्त्ता गोष्ठी :

आचार्यश्री ने १४ अक्टूबर की रात्रि जीवन जागृति केन्द्र, जबलपुर, के कार्यकर्त्ताओं को संबोधित किया। उन्होंने कहा: "मनुष्यता अंधकार से घिरी है और ऐसे समय में जो चुपचाप बैठा है, वह भी दोषी है। अच्छे लोग... तथाकथित अच्छे लोग सदा ही जीवन धारा से दूर खडे रहे हैं। और इन अच्छे लोगों ने मनुष्य जाति का जितना अहित किया है, उतना बुरे लोगों ने भी नहीं किया है। बुराई से न लडना भी बुराई में सम्मिलित होना है, और जीवन से भागना भी जीवन को बुरे लोगों के हाथों में देना है। इसलिये मैं कहता हूं कि अच्छे लोगों को जीवन से पलायन की वृत्ति छोड देनी चाहिये। उन्हें जीवनधारा के मध्य में खडा होना चाहिये ताकि जीवन को सुन्दर और सत्य बनाया जा सके। उनके जीवन में होने..... जीवन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता से पृथ्वी को स्वर्ग बनाया जा सकता है। क्योंकि यह पृथ्वी उनके पलायन से ही नर्क बन गई है।"

★

"साहित्य का जन्म है वहां.... जहां अहंकार नहीं हैं। क्योंकि सृजन मात्र ही सदा अपौरुषेय है :"

नाट्य दिवस समारोह, जबलपुर में :

आचार्यश्री १६ अक्टूबर की रात्रि नाटच दिवस समारोह में बोले। उन्होंने कहा : "साहित्य सत्य की सुगन्ध है। साहित्य शब्द संग्रह मात्र ही नहीं है। और जहां मात्र शब्द हैं, वहां साहित्य नहीं है। साहित्य की आत्मा तो सदा निशब्द में है। और जब भी कोई चेतना स्वयं और सर्व में निशब्द के तल को छू लेती है, तभी वह सृष्टा हो जाती है। इसलिये सृजन सदा ही अपौरुषेय है। वह व्यक्ति से प्रगट होता है, लेकिन वह व्यक्ति का ही नहीं है। अहंकार के लिये वहां कोई भी जगह नहीं है। और जहां अहंकार है वहां सृजन नहीं है। इसलिये मैं साहित्य सृजन को अहंकार विसर्जन की साधना मानता हूं।"

★

"शून्य और जागृत. . . . बस इतनी ही है समस्त साधना। इन दो शब्दों में ही साधना का संपूर्ण सार छिपा हुआ है।"

माथेरान में साधना शिविर :

आचार्यश्री के सान्निध्य में २१, २२, २३ अक्टूबर को एक विशाल साधना शिविर माथेरान में आयोजित हुआ। इस शिविर में देश के कौने कौने से साधक एकत्रित हुये थे। आचार्यश्री ने शिविर का उद्घाटन करते हुये कहा: सत्य है स्वयं में। सत्य है वहीं, जहां मैं हूं। और इसलिये जो उसे कहीं और खोजता है, वह व्यर्थ ही श्रम करता है। स्वयं को जान लेना ही उसे जान लेना है। इसलिये और सब छोडें और स्वयं को खोजें। लेकिन स्वयं को कैसे खोजेंगे? उस खोज का उपकरण है : शून्य जागरुकता (Silent Awareness)। शून्य हों और जागृत हों। और फिर शेष सब स्वयं ही हो जाता है। शून्य पूर्ण का द्वार है।"

★

"सत्य एक है। असत्य अनेक हैं। धर्म भी एक ही है। अधर्म जरुर अनेक हैं। अनेक में जो भटकता है, वह अधर्म में भटकता है और जो एक में प्रविष्ट हो जाता है, वह धर्म को उपलब्ध हो जाता है।

वेदान्त सम्मेलन अमृतसर में :

आचार्यश्री २५, २६ अक्टूबर को अखिल भारतीय वेदान्त सम्मेलन को संबोधित करने अमृतसर पधारे। अमृतसर ने उनका हार्दिक स्वागत किया। हजारों लोगों ने मंत्रमुग्ध हो उनकी वाणी सुनी। उनके क्रांतिकारी शब्दों ने जनता जनार्दन की आत्मा को ही जैसे आन्दोलित कर दिया। सत्य का प्रभाव ही उनका प्रभाव है। सत्य का चमत्कार ही उनका चमत्कार है। उन्होंने यहां कहा: "मैं एक ही बात यहां करने आया हूं कि तुम यदि धर्म में प्रवेश चाहते हो तो धर्मों से बचना। क्योंकि धर्मों ने ही धर्म की हत्या कर दी है। सत्य एक है और एक ही हो सकता है। असत्य जरुर अनेक हो सकते हैं। धर्म भी एक ही है। अधर्म जरुर अनेक हैं। उस एक धर्म का कोई भी नाम नहीं है। क्योंकि 'एक' का कोई नाम हो ही कैसे सकता है. . वह तो अनाम है। लेकिन वह प्रत्येक में छिपा बैठा है और जो भी अपने भीतर आजाता है, वह उसके मंदिर में प्रविष्ट हो जाता है। आह! उसका मंदिर स्वयं के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं है।"

★

"धर्म के मंदिर हैं और अधर्म के देवता। और प्रभु के चरणों में रखे फूल शैतान की पूजा बन गये हैं। क्या समय नहीं आ गया है कि हम धर्म के वस्त्रों को उघाडें और देखें कि कहीं भीतर अधर्म तो नहीं है?"

गाडरवारा में सत्संग :

आचार्यश्री ३० अक्टूबर को गाडरवारा पधारे। उन्होंने यहां दो जनसभाओं को संबोधित किया। उन्होंने कहा: "मैं धर्म के नाम पर मनुष्य को अधर्म में डूबा हुआ देखता हूं। धर्म का मंदिर है लेकिन भीतर देवता हैं अधर्म के। और अधर्म स्पष्ट हो तो तबतो उससे लडना अत्यंत आसान है। लेकिन जब वह धर्म के वस्त्रों में होता है तब बडी कठिनाई हो जाती है। सदियों से मनुष्यता इसी कठिनाई से गुजर रही है। धर्म की बातें होती रही हैं और अधर्म बढता चला गया है। लेकिन अब जागने का समय आ गया है और धर्म के वस्त्रों को उघाडकर देखना जरुरी है कि उन वस्त्रों के भीतर कहीं शैतान तो नहीं बैठा है?'

★

"खोजो निर्विचार को। और छोडो विचार को। विचार तो ज्ञात में ही परिभ्रमण है। वह तो कोल्हू के बैल जैसी ही गति है। अज्ञात में तो निर्विचार ही ले जाता है। और सत्य अज्ञात है और परमात्मा अज्ञात है।"

कौडिया में प्रवचन :

आचार्यश्री २ नवम्बर की मध्यान्ह यहां पधारे। वर्षों बाद उनका यहां आगमन हुआ था। दूर दूर के गांवों से जिज्ञासुजन उन्हें सुनने को इकट्ठे हो गये थे। नगर के बाहर एकांत में उनकी वाणी और उनके दर्शन ने लोगों को कृतार्थ किया। उन्होंने यहां कहा : "विचार परमात्मा का मार्ग नहीं है। परमात्मा तो है अज्ञात और विचार तो केवल उसे ही जान सकता है जो कि जाना ही हुआ है। वह ज्ञात में ही गति है। वह स्मृति में ही परिभ्रमण है। और इसलिये वह नये में और अज्ञात में नहीं ले जाता है। वह तो अतीत में और बासे में और मृत में ही भटकता रहता है। और प्रभु अतीत नहीं है। वह तो चिरनूतन है। वह तो सदा ही नया और जीवन्त है। इसलिये उसे जानने को और उसमें जीने को विचार से बिल्कुल ही भिन्न दिशा उपलब्ध करनी होती है। वह दिशा ही है : ध्यान। वह दिशा ही है निर्विचार की। विचार छोडें... शांत हों और

शून्य हों। और तब वह अतिथि आपके द्वार अपने आप ही आ जायेगा जिसे कि मानवात्मा जन्म जन्मों से खोजती है।"

★

"धर्म को जानना है ? तो भूलकर भी शास्त्रों में मत खोजना। धर्म मृत शब्दों में कहां ? धर्म तो सदा ही जीवन्त प्रेम में है।"

पिन्डरई में प्रवचन :

आचार्यश्री ४ नवम्बर को एक वर्ष बाद पिन्डरई पधारे। स्टेशन पर उनका अत्यंत भावभीना स्वागत हुआ। मध्यान्ह उन्होंने नागरिकों की एक गोष्ठी को और रात्रि में जनसभा को संबोधित किया। उन्होंने यहां कहा :' 'धर्म नहीं, सीखें प्रेम। क्योंकि जहां प्रेम है, वहां धर्म है। लेकिन हम तो शास्त्र सीख लेते हैं.. . . . शब्द सीख लेते हैं. . . . सिद्धांत सीख लेते हैं और स्मृति के इस शोषण को ही धर्म समझ लेते हैं. . धर्म बुद्धि का पोषण नहीं, धर्म तो हृदय का आविर्भाव है। वह स्मृति का प्रशिक्षण नहीं, वह तो अंतःकरण का जागरण है। और इसलिये जो प्रेम के सागर में अपनी जीवन नौका को छोड़ देता है, वह एक दिन, परमात्मा के तट पर अवश्य ही पहुंच जाता है।"

★

"बीज मिटता है तो वृक्ष हो जाता है। और मनुष्य भी क्या एक बीज नहीं है ? बूंद मिटती है तो सागर हो जाती है। और मनुष्य भी क्या बूंद नहीं है ?"

नैनपुर में प्रवचन :

आचार्यश्री ५ नवम्बर को नैनपुर पधारे। उन्होंने मध्यान्ह में एक छोटी गोष्ठी में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर दिये और रात्रि में एक विशाल जनसभा को संबोधित किया। उन्होंने कहा: "मैं तो एक ही मार्ग जानता हूं जीवन को पाने का। मैं तो एक ही द्वार जानता हूं प्रभु के मंदिर का और वह है स्वयं को खो देने की कला. . . . वह है स्वयं को मिटा देने का विज्ञान। बूंद मिटती है तो सागर हो जाती है। बीज मिटता है तो वृक्ष हो जाता है। मनुष्य मिटता है तो प्रभु हो जाता है।"

★

"धर्म है स्वरुप । धर्म है स्वभाव । इसलिये उसे खोजने कहीं भी नहीं जाना है। वह तो सब खोज छोडकर शांत होते ही उपलब्ध हो जाता है ।"

दत्त भजन मंदिर जबलपुर में सत्संग :

आचार्यश्री के सान्निध्य में ८, ९ नवम्बर को यहां एक सत्संग आयोजित हुआ । 'धर्म क्या है ?' इस विषय पर आचार्यश्री बोले । उन्होंने कहा: "धर्म विश्वास नहीं, विवेक है । क्योंकि विश्वास है चेतन का अंधापन और विवेक है चेतना की आंखें । धर्म शब्द नहीं, शून्य है । क्योंकि शब्द हैं उधार और पराये और शून्य है स्वयं का और निज । धर्म संप्रदाय नहीं, सत्य है । क्योंकि संप्रदाय हैं अनेक और सत्य है एक । धर्म सिद्धांत नहीं, अनुभव है । क्योंकि सिद्धांत हैं बुद्धि के और अनुभव है समग्रात्मा का । और अंततः धर्म एक खोज नहीं है धर्म अखोज है क्योंकि खोजते हैं हम उसे जो अनुपलब्ध है । और धर्म तो है स्वरुप । वह तो है स्वभाव । वह तो वही है जो कि सदा ही उपलब्ध है । इसलिये उसे खोजना नहीं होता है । वरन् जैसे ही कोई सब खोज छोडकर शांत होता है वैसे ही उसे उपलब्ध हो जाता है ।"

★

"चेतना है एक दर्पण । और उस पर जो अतीत की धूल को जम जाने देता है, वह सत्य के प्रति, सुन्दर के प्रति, शिव के प्रति. . . . सभी के प्रति अंधा हो जाता है । फिर जीवन के अर्थात् परमात्मा के प्रतिबिम्ब ही उसमें बनने बंद हो जाते हैं। और ऐसे व्यक्ति को ही मैं अधार्मिक कहता हूं ।"

राजकोट में विशाल ज्ञानसत्र :

आचार्यश्री १२ नवम्बर की प्रातःकाल राजकोट पधारे । हवाई अड्डे पर उनके स्वागतार्थ सैकडों लोग इकट्ठे हुये थे । उनके आगमन की खबर विद्युत की भांति दूर दूर तक फैल गई थी और सौराष्ट्र के अनेक नगरों से जिज्ञासुगण आये थे । राष्ट्रीय पाठशाला में ज्ञानसत्र का आयोजन था । १०–१२ हजार व्यक्तियों के बैठने के लिये मंडप बनाया गया था लेकिन वह सत्र के प्रथम दिवस ही छोटा पड गया था । और अंतिम दिवस तक तो श्रोताओं की संख्या १५ हजार को पार कर गई थी । आचार्यश्री के व्यक्तित्व में कोई अनूठा ही जादू है । और उनकी वाणी में कोई अनूठा ही अमृत है । और उनके आवाहन में कोई अनूठी ही क्रांति है । उनके शब्द प्राणों के आरपार हो जाते हैं और उनकी पुकार अंतरतम् के तारों को झनझना देती है । उनके सान्निध्य में हृदय की वीणा बज उठती है, और वह सब समझ में आने लगता है जो कि शायद समझ के अतीत ही है । उन्होंने यहां

आयोजित त्रिदिवसीय सत्संग में अपने समग्र जीवनदर्शन को प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा: "मित्रो, मैं एक ही बात छोडने को कहता हूं और वह है मृत अतीत का बोझ। जो बीत गया है उसे बीत ही जाने दो। वह तुम्हारी चेतना पर धूल न बने। वह तुम्हारी चेतना के दर्पण को ढंक न ले। क्योंकि चेतना के निर्मल दर्पण में ही वह सब जाना जाता है जो कि सत्य है, शिव है, सुन्दर है। और हमारे चित्त के दर्पण तो पत्थर के दर्पण हो गये हैं... अतीत ने, मृत ने, परंपराओं ने, शास्त्रों ने, सिद्धांतों ने सभी ने उनपर धूल की इतनी पर्तें जमा दी हैं कि उन दर्पणों मे अब जीवन का कोई भी प्रतिबिम्ब नहीं बनता है। मैं धूल की इन सारी पर्तों को ही पोंछ डालने के लिये ही आवाहन देने आया हूं। क्योंकि उन्हें पोंछ डालते ही तुम पाओगे कि तुम सदा से ही प्रभु के समक्ष खडे हुये हो.... केवल तुम्हारा दर्पण अंधा था और इसलिये ही उससे मिलन नहीं हो सका, जिसके लिये कि प्राण जन्म जन्म से प्यासे हैं और आतुर हैं।"

★

"प्रत्येक व्यक्ति है अतुलनीय और अद्वितीय। वह वही है जो है। और वह कोई अन्य नहीं, बस स्वयं ही होने को पैदा हुआ है। जो उसे अन्यों से प्रतिस्पर्धा में नहीं, वरन् आत्मविकास में ले जाये वही सम्यक् शिक्षा है।"

राजकोट के शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच:

आचार्य श्री ने १३ नवम्बर की मध्यान्ह शिक्षकों और शिक्षार्थियों की एक विशाल सभा को संबोधित किया। शिक्षा के संबंध में तो उनकी दृष्टि आमूल क्रांतिकारी है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके विचारों से तो एक बिल्कुल ही नये शिक्षा युग का प्रारंभ होगा। उन्होंने यहां कहा: "वह शिक्षा अशिक्षा से भी बदतर है जो कि शिक्षार्थी के चित्त को महत्वाकांक्षा के ज्वर में दीक्षित करती है। क्योंकि महत्वाकांक्षा के अतिरिक्त आत्मा का और कोई रोग नहीं है। शेष सब रोग तो शरीर के हैं। लेकिन महत्वाकांक्षा आत्मा का रोग है। और तथाकथित शिक्षा आजतक इस रोग की, इस ज्वर की, इस विक्षिप्तता की अग्नि में घी का ही कार्य करती रही है। उसने सब भांति महत्वाकांक्षा की इस विक्षिप्तता को प्रज्ज्वलित ही किया है। और परिणाम में हमें यह सभ्यता उपलब्ध हुई है जिसका मूलस्वर हिन्सा और युद्ध और विनाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। महत्वाकांक्षी मनुष्यता अंततः सार्वलौकिक आत्मघात के निकट आकर खडी हो गई है। यदि इस आत्मघात से मनुष्य जाति को बचाना हो तो शिक्षा में आमूल

और तात्कालिक परिवर्तन जरुरी है। शिक्षा को गैरमहत्वाकांक्षी बनाना आवश्यक है। लेकिन शायद ईर्ष्या और द्वेष के द्वारा अहंकार को त्वरा देने के अतिरिक्त हम मनुष्य के विकास का कोई और मार्ग जानते ही नहीं हैं ? जबकि मार्ग है। और जिसे मार्ग कहते हैं, वह तो कोई मार्ग ही नहीं है। वह तो एक प्रकार का पागलपन है, जिसमें दौडना तो बहुत होता है लेकिन पहुंचना बिल्कुल भी नहीं। सम्यक् शिक्षा, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और द्वेष और अहंकार पैदा नहीं कर सकती है। वह तो प्रत्येक में जो छिपा है, उसे प्रगट करने का ही अवसर बनेगी। वह दूसरे से होड नहीं, वरन् स्वयं का विकास सिखायेगी। वह प्रतिस्पर्धा की नहीं वरन् आत्म अतिक्रमण की सीख होगी। वह प्रत्येक व्यक्ति के अनूठेपन और अतुलनीय अद्वितीयता के आधार पर निर्मित होगी और उसे वह वही बनने की ओर गतिमय करेगी जो कि वह बनने को पैदा हुआ है।"

★

"यह बात अद्भुत है लेकिन सत्य है कि जो मन को भरने में लगता है वह खाली ही रह जाता है और जो मन को खाली कर लेता है वह एक ऐसी पूर्णता को उपलब्ध होता है कि फिर उसके प्राणों की और कोई प्यास. . . और कोई मांग शेष ही नहीं रह जाती है।"

राजकोट के महाविद्यालयीन विद्यार्थियों के बीच :

आचार्यश्री ने १४ नवम्बर को महाविद्यालयीन विद्यार्थियों को संबोधित किया। उन्होंने उनसे कहा: "मनुष्य का मन दुष्पूर है। वह भरता ही नहीं है। और भरने की हर चेष्टा से और भी खाली मालूम होने लगता है। वह न धन से भरता है, न पद से, न प्रतिष्ठा से। वह भरता ही नहीं है। शायद भरना उसका स्वभाव ही नहीं है। फिर अंततः मनुष्य उसे परमात्मा से भरना चाहता है। वह उससे भी नहीं भरता है। और यही सतत् असफलता मनुष्य का संताप बन जाती है। लेकिन मैं एक और दिशा सुझाता हूं : मन को भरें नहीं, बल्कि खाली करें। और यह जीवन का सबसे आश्चर्य है कि मन के खाली होते ही पाया जाता है कि उसके मंदिर में तो स्वयं परमात्मा ही सदा से विराजमान है।"

★

"ज्ञान है मुक्ति और ज्ञान ही है शक्ति। धर्म है मुक्ति। विज्ञान है शक्ति। और इन दोनों के बीच चाहिये संतुलन। असंतुलन तो मनुष्यता का दुर्भाग्य ही सिद्ध हो सकता है।"

नेहरु महाविद्यालय राजकोट में "भारतीय सप्ताह" का उद्घाटन :

आचार्यश्री ने १४ नवम्बर को नेहरू महाविद्यालय में "भारतीय सप्ताह" का उद्घाटन किया। उन्होंने कहा: "ज्ञान के अतिरिक्त और कोई मुक्ति नहीं है। इसलिये मैं ज्ञान प्रसार की प्रत्येक चेष्टा का स्वागत करता हूं। ज्ञान मुक्ति भी है और ज्ञान शक्ति भी है। आत्मज्ञान मुक्ति है। पदार्थज्ञान शक्ति है। ज्ञान की इन दोनों दिशाओं में जितना संतुलन होगा संस्कृति उतनी ही संगीतपूर्ण और समग्र होती है। लेकिन आजतक इन दोनों में असंतुलन रहा और यही मनुष्यता का दुर्भाग्य बन गया है। ज्ञान के अंतर और बाह्य रूपों, धर्म और विज्ञान में, संतुलन खोजने की समस्या ही हमारी सबसे बडी समस्या है लेकिन अंधविश्वास छूटे और विवेक विकसित हो तो इस संतुलन को उपलब्ध कर लेने से सरल और क्या हो सकता है?"

★

"दुख नहीं, चाहिये आनन्द ? अंधकार नहीं, चाहिये आलोक ? तो हो जाओ शांत और मौन और शून्य। क्योंकि, चित्त की पूर्ण विश्रांति में ही उसका अवतरण होता है जो कि अमृत है।"

सुरेन्द्रनगर में प्रवचन :

आचार्यश्री १५ नवम्बर को यहां पधारे। सुबह और सांझ उनके दो अमृत प्रवचन यहां हुये। उनकी उपस्थिति की सुगन्ध से नगर महक उठा। उन्होंने यहां कहा: "मनुष्य के जीवन में मूल दुख क्या है ? अशांति और तनाव। और अशांति और तनाव क्यों है ? क्योंकि हम चित्त को विश्राम देना ही भूल गये हैं। शरीर तो विश्राम करता भी है लेकिन चित्त को तो कोई विश्राम ही नहीं है। उसे तो हम निरंतर ही जीवन के कोल्हू में जोते रखते हैं। और कोल्हू के बैल भी रात्रि विश्राम करते हैं। लेकिन चित्त तो रात्रि भी सपनों में सक्रिय रहता है... वह तो रात्रि में भी क्रोध करता है, भयभीत होता है, चिन्तित होता है। चित्तपर यह अतिभार ही व्यक्तित्व के समस्त संगीत को नष्ट कर देता है। और फिर ऐसा क्लांत और थका हुआ मन सत्य को या स्वयं को जानने में भी असमर्थ हो जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिये मैं एक ही सलाह देता हूं... एक ही मेरी शिक्षा है, और वह है चित्त को विश्राम देने की। जितना हो सके चित्त को विश्राम दें.. उसे खाली छोडें। किन्हीं क्षणों में चुपचाप चित्त को देखते रहें.

बस देखते रहें। और देखते देखते ही वह शांत होजाता है। और फिर एक दिन जब वह पूर्ण शांति में होता है तब उसके दर्शन होते हैं जो कि वस्तुतः है। वही मैं हूं... वही सर्व है.... वही सत्य है.... वही प्रभु है। और यह अनुभूति समग्र जीवन को आमूल ही बदल जाती है। जहां दुख था, वहां आनन्द और जहां मृत्यु थी वहां अमृत का आगमन हो जाता है।"

★

"जन्म ही जीवन नहीं है। बीज ही वृक्ष नहीं है। बीज को वृक्ष बनना है। जन्म को जीवन बनना है। और तभी कृतार्थता उपलब्ध होती है।"

कृषि विश्वविद्यालय साधना शिविर, जबलपुर :

आचार्यश्री के सत्संग और मार्ग निर्देशन प्राप्ति के लिये एक साधना शिविर यहां १७, १८, १९, २० नवम्बर को कृषि विश्वविद्यालय में आयोजित हुआ। इस साधना शिविर में साधकों को अपरिमित लाभ हुआ। आचार्यश्री का निकट सान्निध्य तो जीवन में अंततः एक क्रांति ही बन जाता है। उन्होंने शिविर में शरीर, चित्त और आत्मा पर क्रमशः अपने विचार प्रगट किये और साधना के सोपानों पर साधकों को अग्रसर किया। प्रतिदिन सुबह और रात्रि सामूहिक ध्यान साधना के प्रयोग चले। आचार्यश्री की ध्यान की बिल्कुल ही अनूठी और अत्यंत सरल विधि से साधक क्रमशः स्वयं के निकट आता चला जाता है। उसे एक अभिनव शांति का अनुभव होता है और जीवन में अर्थवत्ता प्रविष्ट होती है। आचार्यश्री ने यहां कहा: "बीज की सार्थकता बीज में ही नहीं है। वरन् उन फलों और फूलों में है जो कि वह बन सकता है और यही जीवन के संबंध में भी सत्य है। इसलिये जो जन्म को जीवन समझ लेता है वह भूल में पड जाता है। जन्म ही जीवन नहीं है। बीज ही वृक्ष नहीं है।"

★

"अज्ञान क्या है? निद्रा अज्ञान है। और ज्ञान? जागरण ज्ञान है। स्वयं के और सर्व के प्रति जो जागता है, वह परम जीवन को उपलब्ध होता है।"

पटना में प्रथम ज्ञानसत्र :

आचार्यश्री २५, २६, २७ नवम्बर के लिये यहां पधारे। उनके आगमन से पटना के बुद्धिजीवी वर्ग में तो क्रांति की एक लहर ही दौड गई। उनकी वाणी क्रांति का उद्घोष ही है। उन्होंने यहां कहा: "मैं मनुष्य को सोया हुआ देखता

हूं। हम सब सोये हुये हैं। और इसीलिये तो जीवन अपरिचित और अनजाना और व्यर्थ बीत जाता है। और सोया हुआ मनुष्य भी क्या मनुष्य है? वह तो मनुष्य कम और मशीन ही ज्यादा होता है। निद्रा अर्थात् यांत्रिकता। और यांत्रिकता का जीवन भी कोई जीवन है? यांत्रिकता अर्थात् जडता। लेकिन हम तो इस सोये हुये पन को ही सब कुछ समझ लेते हैं। जबकि जीवन है जागरण। मित्रो, जागना है स्वयं के प्रति और सर्व के प्रति। जागकर स्वयं में जो उपलब्ध है वही है आत्मा, और सर्व में जिसके दर्शन होते हैं वही है परमात्मा। निद्रा अज्ञान है। जागरण ज्ञान है।"

★

"मानवात्मा को स्वयं को आमूल बदलना है तो ही मनुष्यता बच सकती है। लेकिन निराश होने का कोई भी कारण नहीं है क्योंकि चेतना की अभिव्यक्ति की अनन्त संभावनायें सदा शेष हैं।"

पटना महाविद्यालय में :

आचार्यश्री ने २५ नवम्बर की प्रातःकाल पटना महाविद्यालय के छात्रों को संबोधित किया। उन्होंने उनसे कहा: "एक नये मनुष्य को जन्म देना है। पुराने मनुष्य का आधार था, विश्वास। नये मनुष्य का आधार होगा, विवेक। पुराना मनुष्य असफल हो गया है लेकिन उसके साथ ही मनुष्यता के भी असफल हो जाने का कोई कारण नहीं है। चेतना स्वयं के साथ अनंत प्रयोग करने में समर्थ है। उसकी अभिव्यक्ति के अनन्त मार्ग और द्वार हो सकते हैं। एक मार्ग की असफलता यात्रा की ही असफलता नहीं है।"

★

"पुरुष और नारी के व्यक्तित्व अत्यंत भिन्न और अतुलनीय हैं। लेकिन नारी धीरे धीरे एक द्वितीय पुरुष बनती जा रही है। यह दुर्घटना अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है।"

महिला महाविद्यालय पटना में :

आचार्यश्री २६ नवम्बर को महिला महाविद्यालय में पधारे। उन्होंने यहां कहा: "नारी और पुरुष का व्यक्तित्व समान नहीं है। उन दोनों में आधारभूत भिन्नतायें हैं। लेकिन उन दोनों की शिक्षा दीक्षा समान हो रही है। यह बात अत्यंत घातक है। और परिणामतः नारी के व्यक्तित्व को नष्ट कर रही है। नारी को अपने व्यक्तित्व की खोज करनी है और उसके अनुकूल की शिक्षा

का मार्ग भी खोजना है। वह पुरुष का अनुकरण बनकर आत्मघाती ही सिद्ध हो सकती है।"

★

"विज्ञान है एक। धर्म भी एक ही है। लेकिन धर्मों के कारण उसका जन्म ही नहीं हो पा रहा है। धर्मों ने धर्म की भ्रूण हत्या कर दी है।"

रोटरी क्लब पटना में :

आचार्यश्री ने २७ नवम्बर की संध्या पटना रोटरी क्लब को संबोधित किया। धर्म के संबंध में अपने अत्यंत मौलिक विचार उन्होंने यहां प्रगट किये। उन्होंने कहा: "धर्मों ने धर्म की हत्या कर दी है। धर्मों के शेष रहते धर्म का जन्म ही नहीं हो सकता है। क्योंकि, जब पदार्थ है नियम भी सार्वलौकिक हैं तो ऐसा कैसे हो सकता है कि चेतना के नियम सार्वभौम न हों ? धर्म तो एक ही है और एक ही हो सकता है। जैसे कि विज्ञान एक है। हिन्दु या मुसलमान गणित नहीं हो सकता है और न ही ईसाई या जैन रसायनशास्त्र हो सकता है फिर अध्यात्म पर भी ये विशेषण कैसे लगाये जा सकते हैं ?"

★

"शून्य है शक्ति। शून्य है प्रभु। और इसलिये जो स्वयं को मिटाता है, वही सृष्टा हो पाता है।"

पटना के साहित्यकारों और पत्रकारों के बीच :

आचार्यश्री के अमृत सान्निध्य के लिये २७ नवम्बर की रात्रि साहित्यकारों और पत्रकारों ने अपनी एक विशेष गोष्टी आयोजित की थी। आचार्यश्री ने उन्हें संबोधित करते हुये कहा: "सत्य साहित्य का जन्म शून्य से होता है। वस्तुत: तो समस्त सृजनात्मकता ही शून्य से उपजती है। शून्य से बडी और विराट् और कोई शक्ति नहीं है। शून्य ही परमात्मा है। इसलिये जो स्वयं को मिटाकर शून्य होने में समर्थ हो जाता है, वही सृष्टा हो जाता है।"

★

"निरीक्षण और निरी क्षण और निरीक्षण। पावलोव की कब्र पर लिखे शब्द जिस व्यक्ति का जीवन ही बन जाते हैं, वह आत्मसाक्षात्कार को उपलब्ध हो जाता है"

इलाहाबाद में सत्संग :

आचार्यश्री ९, १०, ११ दिसंबर को इलाहाबाद पधारे। यहां के जिज्ञासु

तो जैसे चिर प्रतीक्षा में ही थे। उनके अमृतवचनों ने उन्हें शांति भी दी और क्रांति भी। शांति और क्रांति का ऐसा दुर्लभ मिलन तो किसी एक ही व्यक्ति में असंभव ही प्रतीत होता है। आचार्य श्री शांति के सागर और क्रांति के ज्वालामुखी दोनों ही हैं। उनके शब्दों में शांति की तरुछाया भी है और क्रांति की तलवार भी। और वे जिस भांति और जिस कुशलता से उन दोनों का एक ही साथ प्रयोग करते हैं, वह अपूर्व है। उन्होंने यहां कहा: "शांति चाहते हो तो अशांति को छिपाओ मत वरन् उसे उसकी पूर्णता में जानो। क्योंकि, सम्यक् निरीक्षण के समक्ष अशांति वैसे ही तिरोहित हो जाती है जैसे कि प्रकाश के समक्ष अंधकार विलीन हो जाता है। और पूर्ण शांति से ही जीवनक्रांति का भी जन्म होता है। क्योंकि शांति के दर्पण में ही उसका भी दर्शन होता है जो कि मनुष्य बीज रुप में है और यह दर्शन ही फिर सतत् आत्म अतिक्रमण की चुनौती बन जाता है।"

★

"पूर्ण का निवास है : शून्य में। इसलिये जो शून्य को उपलब्ध होता है, वह पूर्ण की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है।"

इलाहाबाद के साहित्यकारों के बीच :

आचार्यश्री ने १० दिसम्बर की प्रभात बेला में यहां के साहित्यकारों को संबोधित किया। कविवर श्री. सुमित्रानन्दन पंत ने इस संगोष्ठी का सभापतित्व किया। आचार्यश्री ने इस संगोष्ठी में कहा: "शब्द साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है लेकिन साहित्य का जन्म तो निशब्द में ही होता है। रुप कला की अभिव्यंजना है लेकिन उसका मूल उत्स तो अरुप ही है। और इसलिये जो साहित्य आकार के पार निराकार में ले जाता है, मैं केवल उसे ही साहित्य कहता हूं। शेष सब तो उधार शब्दों और विचारों का जोड है। वह सृजन नहीं। वह तो केवल संग्रह है। सृजन तो सदा ही मौलिक है। और मनुष्य की समस्त मौलिकता उसके केन्द्र में बैठे शून्य से ही उपलब्ध होती है। साहित्य है गंगा और शून्यानुभूति है गंगोत्री। जो चेतना उस गंगोत्री को उपलब्ध होती है, उससे सहज ही शाश्वत साहित्य का जन्म हो जाता है। और इसलिये समस्त शाश्वत साहित्य अपौरुषेय है। वह व्यक्ति का नहीं है। व्यक्ति से तो वह मात्र अभिव्यक्त ही होता है। आता तो वह वहां से है, जहां कि परमात्मा का आवास है। पूर्ण का निवास शून्य में है।"

★

"धर्म है एक विद्रोह। वह तो है एक क्रांति। धर्म अंधी स्वीकृति नहीं है। वह तो खुली आंखों से सत्य का आत्यंतिक अन्वेषण है :"

छिन्दवाडा में विशाल जनसभा :

आचार्यश्री १४ दिसम्बर को एक वर्ष बाद पुनः छिन्दवाडा पधारे। उन्होंने यहां एक विशाल जनसभा को संबोधित किया। उन्होंने कहा: "धर्म न तो श्रद्धा है, न विश्वास। उल्टे धर्म के साथ श्रद्धा और विश्वास का संबंध अत्यंत घातक सिद्ध हुआ है। उनके कारण ही धर्म अंधा बना रहा और मनुष्य जाति भी आंखें नहीं पा सकी। विश्वास का अर्थ ही है अंधापन और गुलामी। और मानसिक रुप से अंधा और गुलाम मनुष्य सत्य को कैसे उपलब्ध हो सकता है? सत्य के लिये तो चाहिये स्वतंत्र और विवेकपूर्ण चेतना। और ऐसी चेतना समस्त अंधी धारणाओं, रुढियों और परंपराओं की जंजीरों को तोडने से ही प्राप्त होती है। धर्म तो है एक विद्रोह..... वह तो है एक क्रांति।.... वह तो है एक साहसपूर्ण खोज। वह समाज के प्रति अंधी स्वीकृति नहीं, वरन् स्वयं की अंतश्चेतना का आत्यंतिक अन्वेषण है।"

★

"विज्ञान है शरीर। धर्म है आत्मा। और उन दोनों में से एक को ही चुनना अपने ही हाथों अपनी ही मृत्यु को चुनना है।"

साइन्स कालेज जबलपुर में प्रवचन :

आचार्यश्री १६ दिसंबर के मध्यान्ह में साइन्स कालेज विद्यार्थी संघ के पदाधिकारियों के शपथग्रहण समारोह के उद्घाटन के लिये पधारे। उन्होंने विद्यार्थियों को संबोधित करते हुये कहा: "धर्म भी अधूरा है और विज्ञान भी। उन दोनों के मिलन और संतुलन से ही पूर्ण संस्कृति का जन्म हो सकता है। मानव संस्कृति का शरीर है विज्ञान और आत्मा है धर्म। उन दोनों में से एक को ही चुनना मृत्यु को चुनना है। जीवन की गति तो दोनों के संगीतपूर्ण ऐक्य से ही संभव है।"

★

"धर्म है एक। क्योंकि, सत्य है एक। और इसलिये धर्मों में धर्म नहीं है। धर्मों का अस्तित्व ही धर्म के अवतरण में सबसे बडी बाधा है।"

सर्व धर्म सम्मेलन, जबलपुर की अध्यक्षता :

आचार्यश्री ने संत तारण तरण जयंती समारोह पर आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन की अध्यक्षता की। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में विशाल जनसमूह को संबोधित करते हुये कहा : "धर्म है एक। क्योंकि सत्य है एक। लेकिन अनेक धर्मों के अस्तित्व ने मनुष्य को बहुत धोखे में डाल दिया है। और इसलिये जब तक पृथ्वी से धर्मों को विदा नहीं मिलती है तब तक वास्तविक धर्म का अभ्युदय नहीं हो सकता है। धर्म के जन्म के लिये, धर्मों की मृत्यु अत्यंत आवश्यक है।"

★

"जीवन की संपदा अनन्त है। लेकिन वह जन्म से ही नहीं मिल जाती है। वह तो उसे ही प्राप्त होती है जो कि सतत् उसकी खोज करता है।"

शासकीय महाविद्यालय दमोह में :

आचार्यश्री शासकीय महाविद्यालय के वार्षिक स्नेह सम्मेलन के उद्घाटन के लिये २१ दिसंबर को यहां पधारे। उन्होंने विद्यार्थियों और नागरिकों की विशाल सभा को संबोधित करते हुये कहा: "मित्रो। मैं जीवन का प्रचारक हूं। मैं आनन्द और प्रेम का प्रचारक हूं। मैं सौन्दर्य और सत्य का प्रचारक हूं। मैं आपसे भी यही कहने आया हूं कि जीवन को बिना जाने ही मत गवां देना। जीवन में बडे रहस्य के खजाने छिपे पडे हैं। लेकिन वे केवल जन्म लेने मात्र से ही नहीं मिल जाते हैं। वे तो केवल उसे ही उपलब्ध होते हैं जो कि सतत् उसकी खोज करता है। जीवन तो अनन्त प्रच्छन्न संभावनाओं का एक बीज मात्र है। और जो उसे यं ही रखे बैठा रह जाता है, वह खाली हाथों ही समाप्त हो जाता है।"

★

"मैं प्रत्येक व्यक्ति को ही संन्यासी देखना चाहता हूं। लेकिन यह तो तभी हो सकता है जबकि संसार में होते हुये ही संन्यासी भी संभव हो सके। और मैं कहता हूं कि यह संभव हो सकता है।"

लोनावाला में कार्यकर्त्ता शिविर :

आचार्यश्री के सान्निध्य में २३, २४, २५ दिसंबर को जीवन जागृति केन्द्र के कार्यकर्त्ताओं का प्रथम शिविर संपन्न हुआ। इस शिविर में आचार्य श्री की

शिक्षाओं के आधार पर एक विश्व केन्द्र निर्मित करने के संबंध में विचार विमर्श हुआ और सर्वसम्मति से संकल्प भी लिया गया । इस प्रस्तावित साधना केन्द्र का नाम **"जीवन क्रांति विद्यापीठ"** होगा । वह जीवन में आमूल परिवर्तन लाने के लिये एक साधना स्थली बनेगी । आचार्यश्री सावधिक संन्यास (Periodical Renunciation) के लिये एक व्यापक आन्दोलन चलाना चाहते हैं । उनका कहना कि प्रत्येक व्यक्ति को वर्ष में कुछ दिनों के लिये पूर्ण संन्यासी का जीवन बिताना अत्यंत आवश्यक है । प्रस्तावित जीवन क्रांति विद्यापीठ ऐसे सन्यास की शिक्षा के लिये ही निर्मित होगा। आचार्यश्री ने इस शिविर का समापन करते हुये कहा: "संन्यासी जगत् में रहें या नहीं लेकिन संन्यास को बचाना अत्यंत आवश्यक है । संन्यास एक अपूर्व अनुभव है । और जो उस अनुभव से वंचित रह जाता है, वह जीवन में जो भी सत्य है, शिव है, सुंदर है, उस सबसे भी वंचित रह गया है । इसलिये मैं प्रत्येक व्यक्ति को ही संन्यासी देखना चाहता हूं लेकिन यह तो तभी हो सकता है जबकि संन्यासी और संसारी में कोई भेद ही न रहे । संसार में होते हुये भी संन्यास में हुआ जा सके, तभी यह हो सकता है । जीवन क्रांति विद्यापीठ इसी दिशा में उठाया हुआ कदम है ।"

★

"धर्म को बचाना है । लेकिन किससे ? अधार्मिकों से ? नहीं. . . बल्कि तथा-कथित धार्मिकों और धर्मों से ही धर्म को बचाना है ।"

अहमदाबाद में प्रवचन :

आचार्यश्री २७ दिसंबर को श्री विवेकानंद फाउंडेशन की ओर से आयोजित सर्व धर्म सम्मेलन को संबोधित करने यहां पधारे । उन्हें सुनने के लिये आतुर जनता से टाउनहाल खचाखच भरा हुआ था । उन्होंने यहां कहा: "धर्म को बचाना है । लेकिन किससे ? अधार्मिकों से ? नहीं. . . बल्कि, तथाकथित धार्मिकों और धर्मों से ही धर्म को बचाना है । जीवन धर्म से विहीन हो गया है । लेकिन यह अधार्मिकों के कारण नहीं हुआ है । यह हुआ है धर्म के नाम पर पैदा हुये संप्रदायों, संगठनों और स्वार्थोंके कारण । यह हुआ है धर्म की आड में चलते पाखंडों के कारण । यह हुआ है धर्म के नाम पर फैलाई गई अंधश्रद्धाओं, मूढ रुढियों और विक्षिप्तताओं के कारण । इन सबकी ही प्रतिक्रिया स्वरुप प्रबुद्धजन धर्मविमुख हो गये है धर्म पाखंड से मुक्त हो तो लोकचेतना पुनः धार्मिक हो सकती है । इसलिये

जगत् के समस्त विचारशील लोगों के समक्ष आज धर्म को पाखंडों, अंधविश्वासों और स्वार्थों और संगठनों से मुक्त करने से बडा और कोई पुनीत कार्य नहीं है।"

★

"मनुष्य जो खोजता है, वही हो जाता है। क्षुद्र को जो खोजता है, वह क्षुद्र हो जाता है और विराट् को जो खोजता है, वह विराट् हो जाता है। इसलिये मैं कहता हूं : खोजना ही है तो परमात्मा को खोजो।"

शहीद स्मारक भवन जबलपुर में प्रवचन :

आचार्यश्री ने १ जनवरी की रात्रि जीवन जागृति केन्द्र की ओर से शहीद स्मारक भवन में आमंत्रित जनसभा को संबोधित किया। उन्होंने कहा: "भिखारी बनना है या सम्राट ? भिखारी बनना हो तो क्षुद्र की खोज करो और सम्राट बनना हो तो विराट की। क्योंकि क्षुद्र की खोज में खोजनेवाला भी क्षुद्र हो जाता है। और विराट की खोज में विराट। जीवन का यही नियम है कि मनुष्य जो खोजता है अंततः वही हो जाता है। इसलिये मैं कहता हूं कि खोजना ही है तो परमात्मा को खोजो। क्योंकि वैसी खोज में स्व ही सर्व बन जाता है।"

★

"मृत्यु है बाहर। और भीतर है अमृतत्व। लेकिन हम बाहर ही खोजते हैं, इसलिये मृत्यु से बार बार मिलन होता है। और जो एकबार भी भीतर झांक लेता है, वह सदा के लिये मृत्यु के अतीत हो जाता है।"

बडौदा में सत्संग :

आचार्यश्री ८, ९, १० जनवरी को बडौदा पधारे। बडौदा महानगरी में यह उनका प्रथम पदार्पण था। लेकिन उन्होंने लोगों के हृदय को जीत लिया और वे उनके प्रेम मंदिर में प्रविष्ट हो गये। उनकी वाणी में तो जैसे एक गंगा है और वह समस्त बाधाओं को पारकर अंतस् तक मार्ग बना लेती है। उनके शब्द चाहे भूल जाते हों लेकिन उनकी सुगन्ध निश्चय ही पीछे छूट जाती है। उनका व्यक्तित्व एक अलौकिक संगीत है और उनके सान्निध्य में अन्यों की हृदय वीणा भी बजने लगती है। उन्होंने यहां कहा: "वह जो अत्यंत निकट है, उसे ही हम दूर की खोज में खो देते हैं। वह जो हमारे भीतर ही है, उसे ही हम बाहर की दौड में खो देते हैं। ऐसे जीवन रिक्त होता है और बस मृत्यु भर निकट आती है। मैं पूछना चाहता हूं कि इस तथाकथित जीवन में हम मृत्यु के अतिरिक्त और क्या

उपलब्ध कर पाते हैं ? क्या यह बहुत अजीब सी बात नहीं है कि जीवन की तो खोज है और अंततः हाथ आती है मृत्यु ? होना तो उल्टा ही चाहिये । होना तो चाहिये कि जीवन अमृतत्व को उपलब्ध हो. . . . जीवन को परम जीवन मिले । और तब ही हम उसे सफल जीवन भी कह सकते हैं । लेकिन निराश होने का कोई कारण नहीं है : जीवन अमृतत्व को उपलब्ध हो सकता है । जीवन सरिता परम जीवन के सागर को पा सकती है । लेकिन, काश ! हम स्वयं में उसे खोजें । तब तो वह अमृत है ही । बाहर है मृत्यु । लेकिन भीतर कोई मृत्यु नहीं है ।"

★

"धर्म क्या है ? स्वयं की समस्त से संयुक्तता की अनुभूति को ही मैं धर्म कहता हूं । और यह अनुभूति ही खंडित हो गई है ।"

बडौदा में पत्रकार सम्मेलन :

आचार्यश्री ने ९ जनवरी के मध्यान्ह में पत्रकार सम्मेलन को संबोधित किया । उन्होंने कहा: "मैं जगत् में निराश और अर्थहीनता का साम्राज्य देख रहा हूं । यह सब मनुष्य की उन जडों के शिथिल हो जाने के कारण हुआ है जो कि उसे परमात्मा से जोडती है । मनुष्य भी एक वृक्ष है । और उसकी भी भूमि है । और उसकी भी जडें हैं । क्योंकि वह भी समस्त से विमुक्त नहीं, संयुक्त है । विमुक्तता का बोध ही है अहंकार । और संयुक्तता का बोध ब्रम्ह का द्वार है । मैं स्वयं की समस्त से संयुक्तता की अनुभूति को ही धर्म कहता हूं ।"

★

"सम्यक्शिक्षा है जीवन की शिक्षा. . . . ऊर्ध्वगामी ज्योति की शिक्षा । वह क्षुद्र से विराट् की ओर, मृण्मय से चिन्मय की ओर गति है ।"

बडौदा के शिक्षकों और शिक्षार्थियों के बीच :

आचार्यश्री ने १० जनवरी की रात्रि शिक्षकों और शिक्षार्थियों की एक विशेष सभा को संबोधित किया । उन्होंने कहा: "शिक्षा का केन्द्रीय लक्ष्य क्या है ? जीवन मूल्यों को दीक्षा ही न ? क्षुद्र से चित्त विराट् की ओर गतिमय हो, पार्थिव से अपार्थिव की ओर, शरीर से आत्मा की ओर. . . यही न ? लेकिन आज यह कहां हो रहा है ? शायद तथाकथित शिक्षा जीवन की शिक्षा ही नहीं है । वह तो आजीविका का साधन मात्र ही प्रतीत होती है । लेकिन आजीविका ही तो जीवन नहीं

है । जीवन तो कुछ और ही है । वह आजीविका का मिट्टी का दिया नहीं. . . वह तो सूर्य की ओर उठती हुई ज्योतिशिखा है । सम्यक् शिक्षा सदा ही ऊर्ध्वगामी ज्योति की शिक्षा है । और जब तक ऐसी शिक्षा विकसित नहीं होती है तब तक मनुष्य का कोई भविष्य नहीं है ।"

★

"मैं तुम्हें क्या संदेश दूं ? क्या यही उचित न होगा कि मैं तुम्हें शरीर से ही नहीं, चित्त से भी युवा होने को कहूं ? क्योंकि युवा चित्त होने से बडी न कोई संपदा है न कोई उपलब्धि है ।"

बडौदा में 'यंग मेन्स लीग' के मध्य विचार गोष्ठी :

आचार्यश्री ने १० जनवरी को नवयुवकों और नवयुवतियों के संगठन यंगमैन्स लीग के मध्य अपने विचार प्रगट किये । उन्होंने कहा: "युवा कौन है? जिसका विवेक जागृत है, जो अभय और जो अज्ञात का अन्वेषक है । अंधविश्वास, भयभीत और ज्ञात की लीक में ही गति करनेवाले चित्त को ही मैं बूढा चित्त कहता हूं । और दुर्भाग्य से पृथ्वी पर युवाजन बहुत थोडे हैं इसीलिये तो ऐसी कुरुप और सडीगली दुनियाँ निर्मित हो गई है । आह ! मैं तुम्हें क्या संदेश दूं ? क्या यही उचित न होगा कि मैं तुम्हें शरीर से ही नहीं, मन और आत्मा से भी युवा होने के लिये कहूं ? युवाचित्त पा लेने से बडी न कोई संपदा है और न कोई उपलब्धि है, क्योंकि अंततः युवा चित्त ही परमात्मा को पा लेने का भी अधिकारी हो जाता है।"

★

"मेरे प्रिय । क्या तुम सत्य के आकाश को छूने के लिये आतुर हो ? तो फिर तुम्हें स्वयं की सागरीय गहराईयां छूने की तैयारी करनी भी आवश्यक है ।"

नागपुर में 'आनन्द निकेतन' का उद्घाटन :

आचार्यश्री १४ जनवरी को नवनिर्मित सांस्कृतिक संस्था 'आनन्द निकेतन'के उद्घाटन के लिये नागपुर पधारे । १४ जनवरी के मध्यान्ह उन्होंने संस्था का उद्घाटन किया । इस अवसर पर बोलते हुये उन्होंने कहा: "जीवन में जो भी श्रेष्ठ है, वह सदा ही स्वयं की गहराईयों से पैदा होता है । जिस वृक्ष की आकाश को छूने की अभीप्सा होती है । उसे अपनी जडों को पाताल तक पहुंचाना होता है । ऐसे ही जो व्यक्ति परमात्मा की ऊंचाई को उपलब्ध होना चाहता है. . . . जो परमात्मा के गौरीशंकर शिखरों का स्पर्श करना चाहता है, उसे स्वयं

के भीतर प्रशांत महा सागर की गहराई को भी उपलब्ध होना होता है। मनुष्य को स्वयं में जितनी गहराई मिलती है सत्य में उतनी ही ऊंचाई भी उपलब्ध हो जाती है।"

★

"आत्मा के विकास की भूमिका है : स्वतंत्रता। क्योंकि स्वतंत्रता म ही वह प्रगट होता है जो कि स्वयं में छिपा है और अप्रगट है।"

नागपुर में जनसभा :

आचार्यश्री ने १४ जनवरी की रात्रि यूनिवर्सिटी कानवोकेशन हाल में एक बडी जनसभा को संबोधित किया। उन्होंने कहा: "सत्य स्वतंत्रता की मांग करता है। वह परतंत्र चित्त का अधिकार नहीं है। सत्य की प्राप्ति में परतंत्रता के अतिरिक्त और कोई अपात्रता नहीं है। सत्य के बीज स्वतंत्रता की भूमि में ही अंकुरित होते हैं। और स्वतंत्रता के ही आलोक में ही स्वयं में जो छिपा है, वह प्रगट होता है। इसलिये स्वयं के चित्त को सब भांति स्वतंत्र बनाये रखने को ही मैं धर्मसाधना कहता हूं।"

★

"मनुष्य के चित्त पर सबसे बडी संकट छाया है महत्वाकांक्षा की। वही है उसका आत्मिक ज्वर..... वही है उसकी मानसिक विक्षिप्तता। और जो उससे मुक्त नहीं है, वह ठीक से शिक्षित नहीं है।"

सेक्सरिया महाविद्यालय वर्धा के स्नेह सम्मेलन का उद्घाटन :

आचार्यश्री १५ जनवरी को बहुप्रतीक्षा के बाद वर्धा पधारे। उसी दिन संध्या को उन्होंने सेक्सरिया महाविद्यालय के स्नेह सम्मेलन का उद्घाटन किया। इस अवसर पर आयोजित महत्ती सभा में बोलते हुये उन्होंने कहा: "मनुष्य बीमार है। पूरी मनुष्यता ही ज्वरग्रस्त है। और यह ज्वर है महत्वाकांक्षा का। और दुर्भाग्यों का दुर्भाग्य तो यह है कि हमारी शिक्षा इस ज्वर को घटाती नहीं, विपरीत बढाती है! शायद ईर्ष्या और द्वेष और प्रतिस्पर्धा के द्वारा अहंकार को त्वरा देने के अतिरिक्त हम मनुष्य के विकास का और कोई मार्ग ही नहीं जानते हैं! लेकिन मार्ग है। और जिसे हम अब तक मार्ग समझते रहे हैं, वह कोई मार्ग ही नहीं है। वह तो एक प्रकार सन्निपात है जिसमें दौडना तो हो जाता

है लेकिन पहुंचना कहीं भी नहीं हो पाता है। सम्यक् शिक्षा: प्रतिस्पर्धा, अहंकार तुलना और महत्वाकांक्षा नहीं पैदा कर सकती है। वह तो प्रत्येक में जो छिपा है, उसे प्रगट करने का अवसर बनेगी। वह दूसरे से होड नहीं वरन् स्वयं का विकास ही सिखायेगी। निश्चय ही व्यक्ति को विकास सिखाना है, लेकिन दूसरे से आगे बढने की भ्रांति छाया में नहीं, वरन् स्वयं से ही प्रतिपल आगे बढने के प्रकाश में। और यह कार्य प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं के व्यक्तित्व की स्वीकृति, स्वयं में आनन्दित होने की क्षमता, शांत होने की पात्रता और स्वयं में छिपी संभावनाओं की खोज को गति देकर किया जा सकता है।"

★

"सत्य के सागर को पाना है तो जिज्ञासा की जीवन्त और सतत् प्रवाहमान सरिता बनो... विश्वासों, मान्यताओं और पूर्वाग्रहों के बंद और मृत सरोवर नहीं।"

वर्धा में जनसभा :

आचार्यश्री ने १५ जनवरी की रात्रि को एक विशाल जनसभा को संबोधित करते हुये यहां कहा: "सत्य की खोज का पथ सतत् जिज्ञासा का पथ है। जैसे सरितायें सतत् सागर की ओर बढती रहती हैं ऐसी जिज्ञासा भी सदा सत्य की ओर बहती रहनी चाहिये। और मन विश्वासों और धारणाओं और पूर्वाग्रहों से मुक्त हो तभी ऐसा हो सकता है। जो किन्हीं मान्यताओं में बंद है, उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। फिर वह जीवन सरिता न रहकर एक बंद सरोवर हो जाता है। फिर सत्य के सागर से उसका मिलन असंभव है। इसलिये मैं कहता हूं : "स्वयं को सदा खुला हुआ रखो. . . . सब भांति मुक्त और निर्बन्ध; ताकि एक दिन उस सागर को पाया जा सके जिसे पाने के लिये कि प्राण सदा से आतुर हैं।"

—: ० :—

सौ. शान्ताबहन संघवी का दुखद अवसान

पूना के सुप्रसिद्ध कांट्रॅक्टर और जैन समाज के और जीवन जागृति केन्द्र के महत्वपूर्ण नेता श्री चिमनलाल एस. संघवी की धर्मपत्नी सौ. शान्ताबहन संघवी का १९ फरवरी १९६८ को रात को ११ बजे हृदय रोग से देहावसान हो गया ।

स्व. शान्ताबहन एक धार्मिक वृत्ति की संरल, सेवाभावी महिला थी । श्री चिमनलालभाई के विकास में उनका महत्वपूर्ण साथ था ।

हम जीवन जागृति केन्द्र की ओर से उन्हें हार्दिक श्रद्धांजली अर्पित करते हैं ।

मंत्री, जीवन जागृति केन्द्र, बंबई

जीवन जागृति केन्द्र, बंबई.

कृपया, पाठक इस सूचना पर ध्यान दे ?

आपको यह तो विदित ही है कि "ज्योतिशिखा" अपने दो वर्ष पूरे करके, तीसरे वर्ष में बड़ी आशा और विश्वास के साथ पदार्पण कर रही है ।

जिन सज्जनों ने पिछले एक वर्ष या दो वर्ष से ग्राहक–शुल्क वार्षिक रुपया ५।– के हिसाब से नहीं भेजा है वह तुरंत मनिआर्डर से या जैसा सुविधाजनक हो वैसा कर, कार्यालय में भिजावादें अन्यथा हमें असमर्थ होकर उनके नाम ग्राहक सूची से काटकर अंक बन्द कर देना पड़ेगा ।

आशा है पाठकगण इस महत्वपूर्ण और नम्र सूचना पर ध्यान देकर अपने–अपने शुल्क अविलम्ब कार्यालय में भिजवाकर हमें अनुगृहित करेंगे ।

व्यवस्थापक
ज्योतिशिखा कार्यालय

Statement about ownership and other particulars about "Jyoti Shikha"

FORM IV (*See* Rule 8)

1.	Place of publication	Bombay.
2.	Periodicity of its publication	Quarterly.
3.	Printer's Name	Ramanlal C. Shah.
	Nationality	Bharatiya.
	Address	505, Kalbadevi, Bombay-2.
4.	Publisher's Name	Ramanlal C. Shah.
	Nationality	Bharatiya.
	Address	505, Kalbadevi, Bombay-2.
5.	Editor's Name	Jatubhai M. Mehta.
	Nationality	Bharatiya .
	Address	32, Princess St., Bombay-2.
6.	Names and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital.	Jeevan Jagruti Kendra, 505, Kalbadevi, Bombay-2.

I, Ramanlal C. Shah, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

RAMANLAL C. SHAH,

Date 29*th February* 1968. *Signature of Publisher.*

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई द्वारा प्रकाशित आचार्य रजनीश साहित्य

हिन्दी साहित्य	मू. रुपया
साधनापथ	३–००
क्रांतिबीज	३–००
सिंहनाद	१–५०
अमृतकण	०–५०
अहिंसादर्शन	०–४०
मिट्टी के दिये	३–००
पथ के प्रदीप	४–५०
मैं कौन हूँ	२–००
कुछ ज्योतिर्मय क्षण	०–४०
नये मनुष्य की जन्म की दिशा	०–४०
सूर्य की ओर उड़ान	१–००
प्रेम के पंख	०–७५
सत्य के अज्ञात सागर का आमंत्रण	१–२५
अज्ञात की ओर	१–००
नये संकेत	१–७५

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई द्वारा प्रकाशित
आचार्य रजनीश साहित्य

मराठी साहित्य

साधनापथ	३–००
सिंहनाद	२–००
अहिंसादर्शन	०–५०
अमृतकण	०–५०
क्रांतिबीज	२–५०
प्रेमाचे पंख	०–७५

गुजराती साहित्य

साधनापथ	२–००
क्रांतिबीज	२–०० स्पेशल प्रति २–५०
माटी ना दिवा	३–०० स्पेशल प्रति ३–५०
पथ ना प्रदीप	२–••
सिंहनाद	१–२५
नवा संकेत	१–७५
अमृतकण	०–५०
अहिंसादर्शन	०–५०
केटलीक ज्योतिर्मय क्षण	०–७५
नवा मनुष्य ना जन्म नी दिशा	०–७५

अंग्रेजी साहित्य

पथ आफ सेल्फ रियेलायजेशन	२–२५

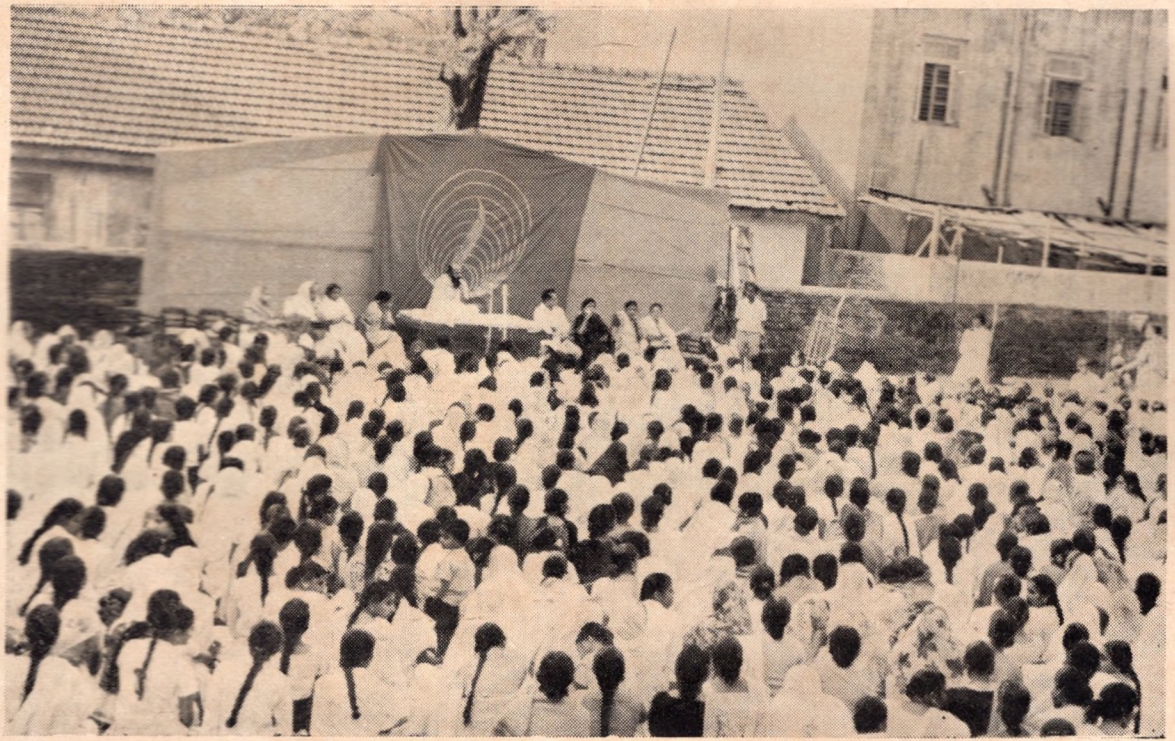

माटुंगा, बम्बई में विशाल महिला–सभा में व्याख्यान देते हुए आचार्य श्री रजनीशजी

मनुष्यके आध्यात्मिक पुनरुत्थानके लिए समर्पित